

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 13 अंक 4

अप्रैल-जून 2016

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
विदेशों में	₹ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए
विदेशों में	₹ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपए
अन्दर कवर	7,500.00 रुपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए 'केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त'

आस्था भारती**रजिस्टर्ड कार्यालय :**

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. लता सिंह, आई.ए.एस. (सेवा-निवृत्त), सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
बचकानी हरकतें	
1. 2011 की जनगणना में भारत का धर्मानुसार असंतुलन और बिगड़ा दिखता है	7
डॉ. जितेन्द्र बजाज	
2. संन्यासियों का कुम्भ बनवारी	21
3. आधुनिकता का भटकाव	26
पवन कुमार गुप्त	
4. विश्व, राष्ट्र एवं धर्म : सनातन एवं समकालीन भारतीय सन्दर्भों में	30
सुधीर कुमार	
5. संस्मरण	36
दर्शनाचार्य दयाकृष्ण	
प्रो. रमेशचन्द्र शाह	
6. राजनैतिक विमर्श में भारतीय दृष्टि के सन्निवेश का प्रश्न	45
प्रो. रामेश्वर मिश्र पंकज	
7. पार्टी और विचारधारा	77
शंकर शरण	
8. यह समाज चल नहीं सकता	86
ध्रुव शुक्ल	

9. भारतीय समाज में विधवा का स्थान <i>जियालाल आर्य</i>	91
10. भारतीयता की तलाश और श्री कुबेरनाथ राय <i>मनोज कुमार राय</i>	95
11. पुस्तक-समीक्षा औपनिषद् नीति-दर्शन का दिग्दर्शन <i>अम्बिका दत्त शर्मा</i>	101
12. पुस्तक-समीक्षा संवाद की संस्कृति <i>नित्यानन्द श्रीवास्तव</i>	107
13. गुजराती भक्ति साहित्य दयाराम : प्रेमभक्ति का चरमोत्कर्ष <i>क्रान्ति कनाटे</i>	112
रपट	119
आस्था भारती वार्षिक व्याख्यान	
पाठकीय प्रतिक्रिया	124
प्राप्ति-स्वीकार	127

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

बचकानी हरकतें

पिछले दिनों कांग्रेस के वरिष्ठ नेता गुलाम नबी आजाद का निहायत बचकाना बयान आया था, जिसमें उन्होंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एवं आतंकी संगठन इस्लामिक स्टेट को एक सा बतलाया था। आजाद राष्ट्रीय एकता के संदर्भ में मुस्लिम उलेमा द्वारा आयोजित एक सम्मेलन में बोल रहे थे। उन्होंने संकीर्ण मानसिकता के प्रति विरोध जताने के संदर्भ में कहा कि हम आइएस सरीखी शक्तियों का उसी तरह विरोध करते हैं जिस तरह आरएसएस सरीखे संगठनों का करते हैं। उन्होंने फिर कहा कि जो मुस्लिम संगठन कुछ गलत कर रहे हैं वे आरएसएस की तरह हैं। आरएसएस एवं भाजपा द्वारा इस मूर्खतापूर्ण बयान का विरोध किए जाने पर भी वे अपनी बात पर कायम रहे। अपने बचाव में उन्होंने कहा कि जिस तरह आइएस यह चाहता है कि दुनिया में केवल मुस्लिमान रहें वैसे ही आरएसएस की सोच है कि केवल हिन्दू रहें। स्पष्टतः न केवल आजाद का वक्तव्य तथ्यतः गलत था; वे भारत के शत्रुओं को देश-विरोधी अस्त्र भी थम्हा रहे थे।

आजाद यह भी भूल रहे थे कि अपने गलतबयानी द्वारा वे एक बर्बर संगठन की विश्वसनीयता बढ़ा रहे थे। गुलाम नबी आजाद देश के वरिष्ठ एवं उम्मेदवार नेता हैं; राज्य सभा में विपक्ष के नेता हैं; लम्बे समय तक केन्द्र में मंत्री एवं जम्मू कश्मीर के मुख्यमंत्री रहे हैं। ऐसे में उल्लिखित बेतुके वक्तव्य देने की उनकी लाचारी समझ में नहीं आती। यहाँ मैं रुस्दी के छः मुस्लिम धार्मिक विद्वानों के समक्ष दिए गये आत्म-स्वीकृतिमूलक वक्तव्य का एक अंश उद्धृत करना चाहता हूँ, जिसमें उसने कहा था कि “अधिकतर भारतीय मुस्लिमान सेक्युलरिज्म को अपनाते हैं क्योंकि एक हिन्दू-बहुल देश में यही उनकी सर्वोत्तम सुरक्षा है।” इस निहायत निर्लज्ज झूठ के पीछे की लाचारी समझ कर संभव है कि हम आजाद की उल्लिखित वक्तव्य देने की लाचारी को समझ सकें।

वैसे गुलाम नबी आजाद अकेले नहीं हैं, जिन्हें लक्ष्मण-रेखा पार करने में परहेज नहीं। सत्ता की राजनीति की लाचारी हमारे किसी उच्च-पदस्त राजनीतिक को भारत सरकार के गृह-मंत्रालय की फाइल की टिप्पणी में बदलाव कराये, और वह भी इस

उद्देश्य से कि किसी जिहादी महिला की स्वच्छ छवि को दिखाकर श्री नरेन्द्र मोदी को फँसाया जा सके तो फिर यह हमारी राजनीतिक पतन की पराकाष्ठा ही है। फिर यदि उच्चतम न्यायालय द्वारा दण्डित जिहादी को शहीद घोषित कर देश को तोड़ने के नारे लेंगे, और वह भी जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में, और कांग्रेस जैसी राष्ट्रीय पार्टी के उपाध्यक्ष उन नारेबाजों के साथ दिखने की उतावली दिखायें, तो यह भारतीय राजनीति के रोग के आसाध्य होने का परिचालक तो है ही।

अभी अभी, पश्चिम बंगाल में चुनाव हुआ, जिसमें वहाँ की मुख्यमंत्री, ममता बनर्जी खुले आम चुनाव आयोग के निर्देशों का उल्लंघन करती नजर आ रही थी। यहाँ तक कि चुनाव आयोग द्वारा जारी कारण बताओ नोटिस का भी कोई प्रभाव उनपर नहीं पड़ा, जो उस राज्य में पहली बार किसी मुख्यमंत्री की दी गयी थी। वे उसके बाद भी लगातार कमीशन की अवज्ञा एवं अवमानना करती रहीं। चुनाव भय-मुक्त वातावरण में होना चाहिए; लेकिन पश्चिम बंगाल में उसका अभाव था। प्रशासन तंत्र भी भय-मुक्त नहीं था। विधि-व्यवस्था से अधिक उन्हें मुख्यमंत्री का भय सता रहा था।

ऊपर जिन बातों का उल्लेख हुआ है, वे सीमा का अतिक्रमण दिखाते हैं। लेकिन इस राजनीति में गिरावट सर्वत्र आयी है। राजनीति में अपराधियों की घुसपैठ बढ़ी है, और ऐसा भी नहीं है कि राजनीतिक दल अपराधी तत्वों के काले कारनामों से अनजान हों और सत्ता के गलियारे में अपराधियों की पैठ बिना उनके जाने हो गयी हो।

भाषा एवं व्यवहार की शालीनता के लोप का एक बड़ा कारण हमारी राजनीति में आया स्खलन रहा है। राजनीति से जुड़े परिवारों के बच्चों का व्यवहार, उनकी उद्दंडता के समाचार समाचार-पत्रों में आते ही रहते हैं। ऐसा आजादी के बाद के वर्षों में तो कतई नहीं था।

— बी.बी. कुमार

2011 की जनगणना में भारत का धर्मानुसार असंतुलन और बिगड़ा दिखता है

डॉ. जितेन्द्र बजाज*

मुसलमानों का भाग और बढ़ा है

2001 और 2011 के मध्य भारत की जनसंख्या में मुसलमानों के भाग में 0.80 प्रतिशत अंकों की वृद्धि हुई है। 2001 में मुसलमान भारत की जनसंख्या का 13.43 प्रतिशत थे, 2011 में वे 14.23 प्रतिशत हैं। यह कदाचित् 2011 की गणना के धर्मानुसार आंकड़ों में सबसे महत्वपूर्ण है। 2001-11 का दशक निरन्तर तीसरा दशक है जिसमें मुसलमानों के भाग में इतनी बड़ी वृद्धि हुई है। उनके भाग में वृद्धि तो 1951 से होती रही है। पर 1981 से पूर्व के दो दशकों में वृद्धि की मात्रा अपेक्षाकृत अल्प थी। उसके बाद प्रति दशक 0.80 प्रतिशत से अधिक की वृद्धि होने लगी। 2001-11 में भी मुसलमानों के भाग में वैसी ही बड़ी वृद्धि हुई है।

मुसलमानों का बढ़ता अनुपात

गणना वर्ष	प्रतिशत अनुपात	दशवार्षिक वृद्धि
1951	10.45	-
1961	10.69	0.24
1971	11.20	0.51
1981	11.75	0.55
1991	12.61	0.86

*समाजनीति समीक्षण केंद्र; ई-मेल : policy.cpsindia@gmail.com; www.cpsindia.org

2001	13.43	0.82
2011	14.23	0.80

वृद्धि प्रतिशत अंकों में दर्शायी गयी है।

मुसलमानों एवं अन्यो की वृद्धि में अन्तराल बढ़ा है

जनसंख्या में मुसलमानों के भाग में जो निरन्तर वृद्धि हो रही है उसके परिणाम को समझने के लिए मुसलमानों एवं अन्यो की दशवार्षिक वृद्धि की दरों के बीच के अन्तराल को देखना चाहिए। 1951-61 से 1971-81 तक यह अन्तराल अपेक्षाकृत अल्प होता था। तब से अब तक के तीनों दशकों में मुसलमानों की वृद्धि की दर भारतीय धर्मावलम्बियों की अपेक्षा प्रायः 50 प्रतिशत अधिक रही है। किसी एक समुदाय की जनसंख्या में अनेक दर्शकों तक अन्यो की अपेक्षा इतनी अधिक वृद्धि होते रहना किसी स्वस्थ सन्तुलित समाज में सम्भव नहीं है। भारतीय धर्मावलम्बियों में हम ईसाइयों एवं मुसलमानों को छोड़कर अन्य सबको गिन रहे हैं, इनमें मुख्यतः हिन्दू, सिख, जैन, बौद्ध एवं जनजातीय धर्मों के लोग आते हैं।

मुसलमानों एवं अन्यो की दशवार्षिक वृद्धि की गति

गणना दशक	प्रतिशत वृद्धि- दर भारतीय धर्मावलम्बी	प्रतिशत वृद्धि-दर मुसलमान	दोनों दरों में प्रतिशत अन्तराल
1951-61	21.16	24.43	15.45
1961-71	23.84	30.84	29.36
1971-81	24.09	30.74	27.60
1981-91	22.79	33.69	48.70
1991-01	20.34	29.50	45.03
2001-11	16.67	24.65	47.82

भारतीय धर्मावलम्बियों में ईसाइयों एवं मुसलमानों को छोड़कर अन्य सब आ जाते हैं।

भारत में मुसलमानों की संख्या शीघ्र ही विश्व के सब देशों से अधिक हो जायेगी

मुसलमानों की जनसंख्या में हो रही इस निरन्तर वृद्धि के चलते भारत में 2011 में मुसलमानों की संख्या 17.22 करोड़ तक पहुँच गयी है। 1951 में यह संख्या 3.77

करोड़ थी। इन छह दशकों में मुसलमानों की जनसंख्या 4.6 गुना हुई है, इस अवधि में भारतीय धर्मावलम्बियों की जनसंख्या में मात्र 3.2 गुना की वृद्धि हुई है। 2011 में भारत में गिनी गयी 17.2 करोड़ मुसलमानों की जनसंख्या अब विश्व में दूसरे स्थान पर आती है। इंडोनेशिया में 2010 में 20.7 करोड़ मुसलमान गिने गये थे। वह पहले स्थान पर आता है। 2011 में पाकिस्तान की कुल अनुमानित जनसंख्या 17.6 करोड़ है, उनमें से मुसलमानों की संख्या भारत की 17.2 करोड़ की संख्या से कदाचित् नीचे ही है। भारत में मुसलमानों की वृद्धि की गति के परिप्रेक्ष्य में यह माना जाता है कि अगले दो-तीन दशकों में भारत में मुसलमानों की संख्या विश्व-भर में सबसे अधिक हो जायेगी।

हिन्दुओं एवं अन्य धर्मावलम्बियों का भाग घटता जा रहा है

मुसलमानों के भाग में हो रही इस निरन्तर वृद्धि के अनुरूप भारत की जनसंख्या में भारतीय धर्मावलम्बियों का भाग घटता जा रहा है। पिछले छह दशकों में यह भाग 87.2 प्रतिशत से घटकर 83.5 प्रतिशत हुआ है। इसमें से हिन्दुओं का भाग अब 80 प्रतिशत से भी नीचे चला गया है। 2011 की कुल जनसंख्या में हिन्दुओं का भाग 79.8 प्रतिशत गिना गया है, 2001 में यह भाग 80.46 प्रतिशत था। इस दशक में सिखों का भाग 1.87 से घटकर 1.72 प्रतिशत, बौद्धों का भाग 0.77 से घटकर 0.70 प्रतिशत और जैनों का भाग 0.41 से घटकर 0.37 प्रतिशत हुआ है। अन्य धर्मावलम्बियों का भाग 0.65 की अपेक्षा 0.66 प्रतिशत हुआ है, इस श्रेणी में मुख्यतः जनजातीय धर्मों के लोग आते हैं।

भारतीय धर्मावलम्बियों का घटता भाग

गणना वर्ष	प्रतिशत भाग	दशवार्षिक हास
1951	87.22	-
1961	86.87	-0.35
1971	86.20	-0.67
1981	85.81	-0.39
1991	85.07	-0.74
2001	84.21	-0.86
2011	83.48	-0.73

हास प्रतिशत अंकों में दर्शाया गया है।

1981-91 से यह असन्तुलन और तीव्रता से बढ़ने लगा है

मुसलमानों के भाग में वृद्धि एवं भारतीय धर्मावलम्बियों के भाग में हास की यह प्रक्रिया स्वतन्त्रता एवं विभाजन के पश्चात् से निरन्तर चलती आयी है, पर 1981-91 के दशक से इसमें स्पष्ट तीव्रता आयी है। 2001-11 के दशक में भी हास की गति वैसी ही तीव्र रही है।

फिर भी भारत के बड़े भाग में हिन्दू अपना वर्चस्व बनाये हुए हैं

मुसलमान भारत के कुछेक भागों में सघनता से केन्द्रित हैं। जनसंख्या में उच्च मुस्लिम अनुपात वाले इन क्षेत्रों में मुसलमानों के भाग में वृद्धि भारत की कुल जनसंख्या में हुई 0.8 प्रतिशत अंक की वृद्धि से कहीं अधिक है। इन क्षेत्रों का वर्णन हम आगे करेंगे। इसी प्रकार भारत के कुछ क्षेत्रों में ईसाई अत्यन्त सघनता से उपस्थित हैं, उन क्षेत्रों में उनका भाग भारत की कुल जनसंख्या में उनके 2.30 प्रतिशत के भाग से कहीं अधिक है और इनमें से कुछ क्षेत्रों में पिछले दशक में उनके भाग में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है। इन क्षेत्रों का वर्णन भी आगे होगा। पर इन क्षेत्रों से इतर देश के बड़े भाग में हिन्दुओं का वर्चस्व है और वहाँ उनका भाग अपेक्षाकृत अक्षुण्ण रहा है। 2001-11 के आँकड़ों में तो अनेक स्थानों पर हिन्दुओं के भाग में कुछ वृद्धि हुई भी दिखती है। यह वृद्धि 2001-11 के धर्मानुसार आँकड़ों का विशेष उल्लेखनीय पक्ष है।

हिन्दुओं के भाग में वृद्धि वाले कुछ क्षेत्र

पूरे राज्य के स्तर पर तो केवल पुदुचेरी ही एक ऐसा प्रदेश है जहाँ 2001-11 में हिन्दुओं की वृद्धि मुसलमानों से कुछ अधिक रही है। पर बिहार, मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ जैसे बड़े राज्यों में भी इस बार मुसलमानों की वृद्धि हिन्दुओं की अपेक्षा थोड़ी ही अधिक रही है। पहले इन राज्यों में मुसलमानों और हिन्दुओं की वृद्धि में बड़ा अन्तराल हुआ करता था। बिहार के बड़े भाग में तो इस दशक में हिन्दुओं की जनसंख्या मुसलमानों से अधिक तीव्र गति से बढ़ी है। पटना, नालन्दा, जहानाबाद, अरवल, औरंगाबाद, गया, नवादा, शेखपुरा, लखीसराय, दरभंगा, सहरसा, सारन और शिवहर, इन सब जिलों में इस दशक में हिन्दुओं की दशवार्षिक वृद्धि मुसलमानों से ऊपर रही है। बिहार की कुल जनसंख्या में मुसलमानों की वृद्धि हिन्दुओं से किंचित् ऊपर है। यह इसलिए है क्योंकि सघन मुस्लिम उपस्थिति वाले अररिया, किशनगंज, पूर्णिया एवं कटिहार और साथ लगेते सुपौल एवं मधेपुरा जिलों में मुसलमानों का भाग बहुत तेजी से बढ़ा है। गुजरात के डांग जिले में भी हिन्दुओं का भाग बढ़ा है, पिछले दशकों में यहाँ ईसाइयत का जो तेजी से प्रसार हो रहा था वह रुका है। गुजरात एवं अन्य राज्यों में अनेक जिले हैं जहाँ हिन्दुओं का भाग पहले से बढ़ा है।

लगता है कि हिन्दुओं में जनसंख्या के बढ़ते असन्तुलन के प्रति नई चेतना उभरी है और जहाँ-जहाँ जनसंख्या में उनका पर्याप्त स्थान बचा है और जहाँ उनका वश चलता है, वहाँ-वहाँ उन्होंने इस असन्तुलन से उबरने का प्रयास किया है। हिन्दुओं के भाग में वृद्धि की यह प्रवृत्ति 2001 में कुछ गिने-चुने जिलों में देखी गयी थी। अब यह प्रवृत्ति अनेक क्षेत्रों के अनेक जिलों एवं तहसीलों में दिखाई दे रही है।

परन्तु सिखों, बौद्धों एवं जैनों का भाग तो घटा है

हिन्दू देश के बड़े भाग में अपने अनुपात को कुछ बढ़ाने अथवा स्थिर रखने में सफल हुए हैं। पर इस दशक में सिखों, बौद्धों एवं जैनों की वृद्धि क्रमशः 8.42, 6.13 एवं 5.37 प्रतिशत मात्र रही है। हिन्दुओं की 16.76 प्रतिशत की तुलना में यह वृद्धि अत्यल्प है। बहुत सारे राज्यों में हिन्दुओं और सिखों, बौद्धों अथवा जैनों की सापेक्ष वृद्धि में बहुत असन्तुलन दिखाई दे रहा है।

मुसलमानों के उच्च अनुपात एवं वृद्धि वाले क्षेत्र

भारतीय धर्मावलम्बियों एवं मुसलमानों और ईसाइयों की सापेक्ष जनसंख्या में असन्तुलन मुख्यतः उन स्थानों पर बढ़ रहा है जहाँ मुसलमानों अथवा ईसाइयों की सघन उपस्थिति है। इन क्षेत्रों में हिन्दुओं के भाग में हास भारत की कुल जनसंख्या में हुए 0.8 प्रतिशत अंक के माध्य हास से कहीं अधिक रहा है। नीचे हम ऐसे कुछ मुस्लिम बहुल क्षेत्रों की परिस्थिति का आकलन कर रहे हैं।

जम्मू एवं काश्मीर

भारत के उत्तरी छोर के इस राज्य में मुसलमानों की बहुसंख्या है। 2001-11 में प्रदेश की जनसंख्या में मुसलमानों का भाग 66.97 से बढ़कर 68.31 प्रतिशत हुआ है और हिन्दुओं का भाग 29.63 से घटकर 28.44 प्रतिशत पर पहुँचा है। सिखों एवं बौद्धों के भाग में भी हास हुआ है। यह प्रदेश काश्मीर, लद्दाख एवं जम्मू—इन तीन क्षेत्रों में विभाजित है। इन क्षेत्रों की धर्मानुसार जनसांख्यिकी में हुए परिवर्तन उल्लेखनीय हैं।

काश्मीर में 2001 में हिन्दुओं की कुल संख्या मात्र 1.01 लाख रह गयी थी, 2011 में यह बढ़कर 1.68 लाख हुई है। पर 2001 के समान अब भी काश्मीर में बचे हिन्दू प्रायः सभी वयस्क पुरुष हैं, उनमें स्त्रियों एवं बच्चों की संख्या अल्प ही है। वहाँ के समाज में अब हिन्दुओं का कोई स्थान बचा नहीं दिखता। इसलिए काश्मीर घाटी की जनसंख्या में उनके भाग में हुए किंचित् सुधार का कोई विशेष अर्थ नहीं है। सिखों का भाग तो इस दशक में कुछ घटा ही है।

लद्दाख में हिन्दुओं का भाग 6.22 से बढ़कर 12.11 प्रतिशत हुआ है। मुसलमानों का भाग 47.40 से घटकर 46.11 प्रतिशत रह गया है। बौद्धों के भाग में

बड़ा हास हुआ है, 2001 में 45.87 प्रतिशत बौद्ध थे, अब 39.65 प्रतिशत हैं। घाटी के समान यहाँ भी हिन्दू अधिकतर वयस्क पुरुष हैं, हिन्दू परिवार यहाँ बहुत नहीं हैं।

जम्मू क्षेत्र में हिन्दुओं के भाग में बड़ा हास हुआ है। 2001 में यहाँ की जनसंख्या में 65.23 प्रतिशत हिन्दू थे, अब 62.56 प्रतिशत रह गये हैं। उस हास के अनुरूप ही मुसलमानों का भाग 30.69 से बढ़कर 33.45 प्रतिशत हुआ है। पिछले दशक में भी जम्मू क्षेत्र में मुसलमानों के अनुपात में बड़ी वृद्धि हुई थी।

हरियाणा

हरियाणा में मुसलमानों का भाग 1991 में 4.64 और 2001 में 5.78 प्रतिशत था, 2011 में यह और बढ़कर 7.03 प्रतिशत हो गया है। 2001-11 के दशक में मुसलमानों की जनसंख्या में 45.66 प्रतिशत की वृद्धि हुई है और हिन्दू केवल 18.84 प्रतिशत बढ़े हैं।

मेवात जिला मुसलमानों के गढ़ जैसा है। प्रदेश के कुल 17.81 लाख मुसलमानों में से 8.63 लाख इस जिले में हैं। मेवात 2001 के पश्चात् गुड़गाँव जिले से निकाला गया है। 2001-11 के एक दशक में मेवात में मुसलमानों का अनुपात 74.83 से बढ़कर 79.20 प्रतिशत हुआ है और हिन्दुओं का भाग 24.84 से घटकर 20.37 प्रतिशत रह गया है। इस पूरे क्षेत्र में मुसलमानों के भाग में अनेक वर्षों से अप्रत्याशित वृद्धि हो रही है। यहाँ की कुछ तहसीलों में मुसलमानों का भाग पिछले तीन-चार दशकों में 15 प्रतिशत अंकों तक बढ़ा है।

पश्चिमी उत्तर प्रदेश और उत्तराखण्ड के मुस्लिम बहुल क्षेत्र

पश्चिमी उत्तर प्रदेश की मुस्लिम बहुल पट्टी में मुसलमानों का प्रतिशत भाग, 1951-2011

1951	1961	1971	1981	1991	2001	2011
29.93	30.61	31.17	32.82	36.33	38.52	40.43

उत्तर प्रदेश के पश्चिमी क्षेत्रों के 1991 के अविभाजित सहारनपुर, हरिद्वार, मुजफ्फरनगर, मेरठ, बिजनौर, मुरादाबाद, रामपुर और बरेली जिलों में मुसलमानों का विशेष प्रभाव है और स्वतन्त्रता के पश्चात् से यहाँ मुसलमानों के भाग में तेजी से वृद्धि होती चली गयी है। 1951 में इस पूरी पट्टी की जनसंख्या में 30 प्रतिशत से अल्प मुसलमान थे, अब वे 40 प्रतिशत से अधिक हैं। 2001-11 में इस पट्टी में मुसलमानों के भाग में 2 प्रतिशत अंकों की वृद्धि हुई है, जबकि पूरे उत्तर प्रदेश में मुसलमानों का भाग 18.50 प्रतिशत से मात्र 0.76 प्रतिशत बढ़कर 19.26 प्रतिशत हुआ है।

उत्तराखण्ड में मुसलमानों के भाग में वृद्धि उत्तर प्रदेश और भारत के माध्य की अपेक्षा बहुत अधिक हुई है। यहाँ मुसलमानों का भाग 2001 में 11.92 प्रतिशत था, 2011 में यह 2 प्रतिशत अंक बढ़कर 13.95 प्रतिशत हुआ है। यह वृद्धि अधिकतर निम्न उत्तराखण्ड के हरिद्वार, देहरादून और ऊधमसिंह नगर जिलों में हुई है। हरिद्वार और देहरादून को तो हमने ऊपर पश्चिमी उत्तर प्रदेश की पट्टी में गिन लिया है। ऊधमसिंह नगर जिले में मुसलमानों का भाग 2001-11 के दशक में 20.59 से बढ़कर 22.58 प्रतिशत हुआ है। इस क्षेत्र में मुसलमानों का भाग पिछले अनेक दशकों से निरन्तर बढ़ रहा है। ऊधमसिंह नगर कुमाऊँ क्षेत्र में आता है, उस पूरे क्षेत्र में 1951 में मुसलमानों का भाग 4.24 प्रतिशत था, अब 12.12 प्रतिशत हो गया है।

उत्तराखण्ड के कुमाऊँ क्षेत्र में मुसलमानों का प्रतिशत भाग, 1951-2011

1951	1961	1971	1981	1991	2001	2011
4.24	5.24	5.92	6.42	8.24	10.10	12.12

बिहार का मुस्लिम बहुल क्षेत्र

बिहार की जनसंख्या में मुसलमानों का 16.87 प्रतिशत का बड़ा भाग है, पर 2001-11 के दशक में इसमें मात्र 0.33 प्रतिशत अंकों की वृद्धि हुई है। वृद्धि अधिकतर अररिया, पूर्णिया, कटिहार एवं किशनगंज और साथ लगे मधेपुरा और सुपौल जिलों में हुई है। इनमें भी केवल अररिया, पूर्णिया और कटिहार के तीन जिले ही ऐसे हैं जहाँ मुसलमानों के भाग में 2001-11 के दशक में 1 प्रतिशत अंक से अधिक की वृद्धि हुई है। इस प्रकार बिहार में मुसलमानों की अति-वृद्धि अब थमी लगती है।

झारखण्ड का मुस्लिम एवं ईसाई बहुल क्षेत्र

सन्थाल परगना में मुसलमानों एवं ईसाइयों का प्रतिशत भाग, 1951-2011

	1951	1961	1971	1981	1991	2001	2011
मुस्लिम	9.44	13.77	14.62	16.44	18.25	20.59	22.73
ईसाई	0.18	1.14	1.55	1.64	1.68	3.24	4.21

झारखण्ड में भी कुल मिलाकर मुसलमानों एवं ईसाइयों के भाग में अधिक वृद्धि हुई नहीं दिखती। पर प्रदेश के सन्थाल परगना क्षेत्र में मुसलमानों एवं ईसाइयों दोनों का भाग पिछले अनेक दशकों से बढ़ता जा रहा है और इस बार भी उनके भाग में पर्याप्त वृद्धि हुई है। इस क्षेत्र में अब देवघर, गोड्डा, साहिबगंज एवं पाकुड़ के चार जिले हैं, ये बिहार के पूर्णिया क्षेत्र के साथ लगते हैं। इन चार जिलों की सम्मिलित

जनसंख्या में मुसलमानों के भाग में 2 प्रतिशत अंकों से अधिक की और ईसाइयों के भाग में 1 प्रतिशत अंक की वृद्धि हुई है। यहाँ मुसलमानों के भाग में वृद्धि 1951 के पश्चात् से निरन्तर चलती आ रही है। ईसाइयों का प्रसार 1991 के पश्चात् से तीव्र हुआ है। इनके अतिरिक्त जमतारा एवं सरायकेला जैसे कुछ जिलों में भी मुसलमानों के भाग में असाधारण वृद्धि हुई है। झारखण्ड की धर्मानुसार जनसांख्यिकी कुछ विकट है। कुछ क्षेत्रों में ईसाइयों के भाग में बड़ी वृद्धि हुई है, अन्य क्षेत्रों में जनजातीय धर्मों के अवलम्बियों का भाग बढ़ा है और सिंहभूम जैसे कुछ क्षेत्रों में हिन्दुओं का भाग भी बढ़ा है। पर इन सब में सबसे उल्लेखनीय क्षेत्र सन्थाल परगना का है जहाँ मुसलमान और ईसाई दोनों तेजी से बढ़ रहे हैं।

पश्चिम बंगाल

उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, बिहार एवं झारखण्ड के विपरीत पश्चिम बंगाल के प्रत्येक जिले में हिन्दुओं के भाग में हास हुआ है। इस राज्य की जनसंख्या में 2001-11 के दशक में हिन्दुओं के भाग में 2 प्रतिशत अंकों का हास हुआ है, यह भारत में हुए 0.80 प्रतिशत अंकों के हास से कई गुना अधिक है। वास्तव में पिछले दशक में धर्मानुसार असन्तुलन की समस्या इस प्रदेश से ही विकट होती दिखती है। आगे असम एवं उत्तर-पूर्व के राज्यों में असन्तुलन और भी विकट हुआ है। 2001-11 में पश्चिम बंगाल में हिन्दुओं, मुसलमानों एवं ईसाइयों की दशवार्षिक वृद्धि क्रमशः 10.81, 21.81 एवं 27.85 प्रतिशत रही है। मुसलमानों का भाग प्रदेश में सब स्थानों पर बढ़ा है। सबसे अधिक वृद्धि दक्षिण दीनाजपुर एवं मुर्शिदाबाद में हुई है। दक्षिण 24-परगना, बीरभूम, हावड़ा, उत्तर 24 परगना, नादिया और कूच बिहार में भी वृद्धि प्रदेश के माध्य से अधिक रही है।

पश्चिम बंगाल की सीमावर्ती पट्टी में मुसलमानों का प्रतिशत भाग, 1951-2011

1951	1961	1971	1981	1991	2001	2011
39.89	44.01	43.20	44.95	47.14	49.31	51.69

प्रदेश के बांग्लादेश के साथ लगते उत्तरी एवं केन्द्रीय जिलों की एक सीमावर्ती पट्टी में मुसलमानों का भाग एवं उसमें वृद्धि दोनों ही अधिक हैं। इस पट्टी में अविभाजित पश्चिम दीनाजपुर, मालदा, बीरभूम एवं मुर्शिदाबाद जिले आते हैं। इस पट्टी में मुसलमानों का अनुपात 1951 में 30.89 प्रतिशत था, अब 2011 में यह अनुपात 51.69 प्रतिशत तक पहुँच गया है। 2001-11 में यहाँ मुसलमानों के भाग में 2 प्रतिशत अंक से अधिक की वृद्धि हुई है और अब इस पूरी पट्टी में मुसलमान बहुसंख्यक हो गये हैं।

असम

2001-11 के दशक में मुसलमानों के भाग में सबसे अधिक वृद्धि असम में हुई है। यहाँ की जनसंख्या में 2001 में 30.92 प्रतिशत मुस्लिम थे, अब वे 34.22 प्रतिशत हो गये हैं। मुसलमानों के भाग में हुई यह 3.30 प्रतिशत अंकों की वृद्धि 1901 से अब तक के जनगणना के काल की दूसरी सबसे बड़ी वृद्धि है। केवल 1921-31 के दशक में इससे भी अधिक 4.04 प्रतिशत अंकों की वृद्धि हुई थी। उस समय ब्रिटिश सरकार की नीति के अनुसार अब के बांग्लादेश के कुछ जिलों से मुसलमानों को लाकर यहाँ बसाया जा रहा था।

2001-11 के दशक में मुसलमानों की जनसंख्या में 20.59 प्रतिशत की वृद्धि हुई है और हिन्दू केवल 10.89 प्रतिशत बढ़े हैं। इस दशक में जो 45.5 लाख लोग जनसंख्या में जुड़े हैं उनमें से 24.4 लाख मुसलमान हैं और 18.8 लाख हिन्दू। इसका अर्थ है कि इस दशक में जुड़े प्रत्येक 100 लोगों में 54 मुसलमान हैं और केवल 41 हिन्दू। शेष 5 में से 4 ईसाई हैं, उनके भाग में भी इस दशक में बड़ी वृद्धि हुई है।

असम के मुस्लिम-बहुल क्षेत्रों में मुसलमानों का प्रतिशत भाग, 1951-2011

	1951	1961	1971	1981	1991	2001	2011
निम्न एवं							
मध्य असम	32.42	33.13	31.89	-	37.15	40.34	44.61
कछार क्षेत्र	38.49	39.14	39.89	-	43.02	45.47	48.14

असम में मुसलमान निम्न एवं मध्य असम और बराक घाटी के कुछ जिलों में सघनता से बसे हैं। निम्न एवं मध्य असम के अविभाजित गोआलपाड़ा, कामरूप, दरंग एवं नगाँव जिलों में मुसलमानों का भाग 1951 में 32.42 प्रतिशत था, अब 44.61 प्रतिशत हुआ है। केवल 2001-11 के दशक में ही इसमें 4 प्रतिशत अंकों की वृद्धि हुई है। इस क्षेत्र में मुसलमानों के भाग में हुई यह वृद्धि स्वतन्त्रता के पश्चात् की सबसे बड़ी वृद्धि है। कछार क्षेत्र में 1951 में मुसलमानों का भाग 38.49 प्रतिशत था, अब 48.14 प्रतिशत हुआ है।

इस प्रकार भारत के अन्य भागों की प्रवृत्ति के विपरीत असम और कुछ सीमा तक पश्चिम बंगाल में भी 2001-11 के दशक में मुसलमानों के भाग में बड़ी वृद्धि हुई है, यह वृद्धि 1981-91 के दशक में देश के अनेक भागों में मुसलमानों के भाग में हुई सहसा वृद्धि जैसी ही बड़ी दिखती है।

केरल

जम्मू, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश एवं उत्तराखण्ड की मुस्लिम बहुल पट्टी, पश्चिमी बंगाल एवं असम के पश्चात् केरल में मुसलमानों की वृद्धि अन्यो की अपेक्षा अत्यन्त अधिक रही है। केरल में मुसलमानों और ईसाइयों दोनों का बड़ा प्रभाव है। 2001-11 के दशक में यहाँ मुसलमानों की जनसंख्या में 12.84 प्रतिशत की वृद्धि हुई है, जबकि हिन्दुओं एवं ईसाइयों की वृद्धि क्रमशः मात्र 2.23 एवं 1.38 प्रतिशत रही है। अतः प्रदेश की जनसंख्या में मुसलमानों के भाग में 1.87 प्रतिशत अंक की वृद्धि हुई है और हिन्दुओं एवं ईसाइयों के भाग में क्रमशः 1.44 और 0.64 प्रतिशत का हास हुआ है।

केरल के उदाहरण से स्पष्ट है कि किसी प्रदेश की जनसंख्या की वृद्धि की गति घटने से स्वतः ही धर्मानुसार सन्तुलन स्थापित नहीं हो जाता। सब समुदायों की वृद्धि अपेक्षाकृत अल्प होने पर भी उनकी सापेक्ष वृद्धि में बहुत अन्तर हो सकता है। इस सन्दर्भ में पटनमतिट्टा जिले का उदाहरण विशेषतः सारगर्भित है। 2001-11 में इस जिले में तीनों समुदायों की जनसंख्या में वृद्धि की अपेक्षा हास हुआ है। फिर भी जिले में मुसलमानों का भाग किंचित् बढ़ा ही है, क्योंकि अन्यो की जनसंख्या में हास की गति मुसलमानों से कहीं अधिक रही है।

देश में विशेष मुस्लिम एवं उनके भाग में अति-वृद्धि वाले अन्य अनेक स्थान हैं। पर ऐसे अपेक्षाकृत बड़े और महत्वपूर्ण सब स्थानों का वर्णन ऊपर हो गया है। जैसा कि हमने देखा है, 2001-11 में इन सब क्षेत्रों में मुसलमानों की वृद्धि की गति में सहसा तेजी आयी है। हिन्दुओं के वर्चस्व वाले अनेक क्षेत्रों में इस दशक में हिन्दुओं का भाग किंचित् बढ़ने का यह दूसरा पहलू है। लगता है कि भारत के तीन प्रमुख समुदायों में जनसंख्या में अपना भाग बढ़ाने की होड़-सी लगी है। इस होड़ में मुसलमानों की परिस्थिति का वर्णन हम कर आये हैं। आगे ईसाई प्रभाव वाले क्षेत्रों का वर्णन करेंगे।

ईसाइयों के उच्च अनुपात एवं वृद्धि वाले क्षेत्र

2011 की गणना के अनुसार देश की कुल जनसंख्या में ईसाइयों के भाग में किंचित्-सा हास हुआ है। 2001 में उनका भाग 2.35 प्रतिशत था, 2011 में 2.30 प्रतिशत है। पर उन अनेक क्षेत्रों में जहाँ ईसाइयों का बड़ा प्रभाव है, वहाँ उनके भाग में बड़ी वृद्धि हुई है। नीचे हम ऐसे प्रमुख क्षेत्रों का वर्णन करेंगे।

राँची-रायगढ़-सुन्दरगढ़ का क्षेत्र

झारखण्ड के अविभाजित राँची, छत्तीसगढ़ के रायगढ़ और ओडिशा के सुन्दरगढ़ के एक-दूसरे के साथ लगते जिलों के क्षेत्र में अनेक दशकों से ईसाइयों का गहन प्रसार

चला आ रहा है। इस क्षेत्र के अधिकतर भागों में इस दशक में ईसाइयों के भाग में पर्याप्त वृद्धि हुई है। राँची क्षेत्र में इस दशक में सिमडेगा को नया ईसाई-बहुल जिला बनाया गया है, इस जिले में ईसाई बहुसंख्यक हैं, यहाँ उनका अनुपात 51.14 प्रतिशत है। यह घटना हरियाणा में मेवात का नया मुस्लिम बहुसंख्यक जिला बनाये जाने के समान ही है। इसके अतिरिक्त राँची के खुँटी एवं गुमला जिलों में भी ईसाइयों का अनुपात ऊँचा है, खुँटी में 25.65 प्रतिशत और गुमला में 19.75 प्रतिशत ईसाई हैं। खुँटी जिला भी इसी दशक में नया बनाया गया है। इस क्षेत्र में कुल मिलाकर ईसाइयों का अनुपात कुछ बढ़ा है।

छत्तीसगढ़ के अविभाजित रायगढ़ में से निकाले गये जशपुर जिले में ईसाइयों का विशेष प्रभाव है। पर 2001-11 के दशक में जशपुर में उनका अनुपात 22.82 से किंचित् घटकर 22.26 प्रतिशत हुआ है। इस प्रदेश में हिन्दुओं का अनुपात भी घटा है। वृद्धि अधिकतर जनजातीय धर्मों की श्रेणी में हुई है।

ओडिशा के सुन्दरगढ़ में ईसाइयों का अनुपात 16.85 से बढ़कर 18.39 प्रतिशत हुआ है। इस जिले में जनजातीय धर्मों में गिने गये लोगों के अनुपात में भी 3 प्रतिशत अंक की वृद्धि हुई है। उसके अनुरूप हिन्दुओं के अनुपात में 5 प्रतिशत अंकों का हास हुआ है।

ओडिशा का कन्धमल-गजपति क्षेत्र

इस क्षेत्र में ईसाइयों का प्रसार बहुत तेजी से हो रहा है। 2001-11 में गजपति जिले में ईसाइयों का अनुपात 33.47 से बढ़कर 37.98 प्रतिशत और कन्धमल में 18.20 से बढ़कर 20.31 प्रतिशत हुआ है। रायगढ़ में भी ईसाइयों के अनुपात में वृद्धि हुई है और तीव्र ईसाई प्रसार वाला यह क्षेत्र कोरापुट, नवरंगपुर और मलकानगिरि तक बढ़ता हुआ दिख रहा है।

तमिलनाडु का कन्याकुमारी जिला

तमिलनाडु के कन्याकुमारी जिले में ईसाइयों का प्रतिशत भाग, 1951-2011						
1951	1961	1971	1981	1991	2001	2011
34.74	36.89	38.89	38.78	42.35	44.47	46.85

केरल के साथ लगते इस जिले में ईसाइयों का बहुत गहन प्रभाव है और जनसंख्या में उनका भाग 1951 से निरन्तर बढ़ता जा रहा है। 1951 में वहाँ 34.74

प्रतिशत ईसाई गिने गये थे, 2011 में वे 46.85 प्रतिशत हैं। अब तक की प्रवृत्ति के अनुरूप ही 2001-11 में उनके अनुपात में 2.38 प्रतिशत अंकों की वृद्धि हुई है।

केरल

केरल कदाचित् देश का अकेला ऐसा राज्य है जहाँ मुसलमानों एवं ईसाइयों दोनों का बड़ा प्रभाव है। जैसा कि हम पहले देख आये हैं, यहाँ मुसलमानों के भाग में बड़ी वृद्धि हो रही है। इसलिए ईसाइयों एवं हिन्दुओं दोनों का अनुपात घट रहा है। 2001-11 में यहाँ ईसाइयों का अनुपात 19.02 से घटकर 18.38 प्रतिशत हुआ है। इडक्की एवं तिरुवनन्तपुरम् को छोड़कर सब जिलों में उनका अनुपात घटा है।

उत्तर-पूर्व के राज्य

यह क्षेत्र प्रायः पूरे-का-पूरा ईसाई बहुल हो गया है। इस क्षेत्र के नगालैंड और मिजोरम में तो लगभग पूरी जनजातीय जनसंख्या ईसाई हो चुकी है। वहाँ ईसाइयों के भाग में किसी वृद्धि की अब अपेक्षा नहीं रही।

मणिपुर में जनजातीय लोग घाटी के बाहर के पहाड़ी जिलों में केन्द्रित हैं। वहाँ ईसाइयत में सतत प्रसार हो रहा है। इस प्रदेश में 2001-11 के दशक में ईसाइयों का भाग 37.31 से बढ़कर 41.29 प्रतिशत हुआ है।

उत्तर-पूर्व के मणिपुर राज्य में ईसाइयों का प्रतिशत भाग, 1951-2011						
1951	1961	1971	1981	1991	2001	2011
11.84	19.49	26.03	29.68	34.11	37.31	41.29

मेघालय की कुछ जनजातियाँ आग्रहपूर्वक ईसाई बनने से बचती रही हैं। पर वहाँ भी ईसाइयों के भाग में निरन्तर वृद्धि होती चली जा रही है। अब वहाँ की जनसंख्या में ईसाइयों का भाग 74.59 प्रतिशत हो गया है; 2001-11 के दशक में ही इसमें 4 प्रतिशत अंकों की वृद्धि हुई है। लगता है कि अगले एक-दो दशकों में मेघालय भी नगालैंड एवं मिजोरम के समान प्रायः पूरा ईसाई हो जायेगा।

उत्तर-पूर्व के मेघालय राज्य में ईसाइयों का प्रतिशत भाग, 1951-2011						
1951	1961	1971	1981	1991	2001	2011
24.66	35.21	46.98	52.61	64.58	70.25	74.59

त्रिपुरा में ईसाई अब तक बहुत नहीं हैं। 2001-11 में वहाँ ईसाइयों का भाग 3.20 से बढ़कर 4.35 प्रतिशत हुआ है।

असम में ईसाइयों का भाग प्रायः स्थिर रहा है। 2001 में वहाँ ईसाइयों का भाग 3.70 प्रतिशत था अब 3.74 प्रतिशत है। पर बोडोलैंड के अनेक जिलों और दिमासा एवं कर्बी आंगलांग क्षेत्र में ईसाइयों के भाग में पर्याप्त वृद्धि हुई है।

सिक्किम की गिनती उत्तर-पूर्व में नहीं होती। पर सिक्किम उत्तर-पूर्व के पड़ोस में है और वहाँ ईसाइयों के भाग में बड़ा विस्तार हुआ है। 2001 में वहाँ 6.68 प्रतिशत ईसाई थे, अब 9.91 प्रतिशत हैं। साथ लगेते दार्जीलिंग जिले में भी ईसाइयों का अनुपात 6.17 से बढ़कर 7.68 प्रतिशत हुआ है।

अरुणाचल प्रदेश को हमने अन्त तक छोड़ रखा है, क्योंकि सामरिक दृष्टि से उत्तर-पूर्व के इस सबसे महत्वपूर्ण राज्य में 2001-11 में ईसाइयत का जो व्यापक प्रसार हुआ है वह 2011 की जनगणना का सबसे अधिक उल्लेखनीय विषय है। अरुणाचल प्रदेश में 1981 तक ईसाई बहुत नहीं थे। उसके पश्चात् वहाँ ईसाइयत का तेजी से विस्तार होने लगा है। पर पिछले दशक में ईसाइयों के भाग में जो वृद्धि हुई है वह अप्रत्याशित ही है। 2001 में वहाँ 18.72 प्रतिशत ईसाई थे, 2011 में उनका भाग 12 प्रतिशत अंक बढ़कर 30.26 प्रतिशत हो गया है।

अरुणाचल प्रदेश में ईसाइयों का प्रतिशत भाग, 1951-2011						
1951	1961	1971	1981	1991	2001	2011
अनुपलब्ध	0.51	0.79	4.32	10.30	18.72	30.26

प्रदेश के तिरप जिले में अब ईसाइयों का भाग 75 प्रतिशत और कुरुंगकुमे में 56 प्रतिशत है। निम्न सुबनश्री, पापुम पारे और पूर्वी कामेंग जिलों में ईसाइयों का भाग 40 प्रतिशत से अधिक है। इन जिलों के जनजातीय लोगों में ईसाइयत का प्रसार इससे भी कहीं अधिक है, लगता है कि कुछ जिलों में तो नगालैंड एवं मिजोरम की भाँति प्रायः पूरा जनजातीय समुदाय ईसाई हो चुका है।

उपसंहार

ऊपर हमने 2001 की जनगणना के धर्मानुसार आँकड़ों के प्रायः सब महत्वपूर्ण पक्षों का उल्लेख कर दिया है। इनमें सबसे उल्लेखनीय पक्ष पाँच हैं—

एक, अनेक दशकों से चल रही प्रवृत्ति के अनुरूप 2001-11 के दशक में भी मुसलमानों के भाग में 0.80 प्रतिशत की वृद्धि हुई है और भारतीय धर्मावलम्बियों के भाग में प्रायः उतना ही हास हुआ है। यह प्रक्रिया और तीन-चार दशक चलती रही

तो आज के भारत में तो नहीं पर विभाजन-पूर्व के सम्पूर्ण भारत में भारतीय धर्मावलम्बी अल्पसंख्यक रह जायेंगे।

दो, उत्तर-पश्चिम में हरियाणा में मेवात और पश्चिमी उत्तर-प्रदेश एवं उत्तराखंड के कुछ भाग में मुसलमानों की जो सघन उपस्थिति है, वह इस बार भी और गहरी हुई है।

तीन, पश्चिमी बंगाल और असम मुसलमानों के भाग में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है। असम में इस दशक में जो वृद्धि हुई है वह स्वतन्त्रता के पश्चात् किसी दशक में हुई सर्वाधिक वृद्धि है।

चार, ईसाई मध्य भारत, तमिलनाडु एवं उत्तर-पूर्व के अपनी सघन उपस्थिति वाले क्षेत्रों में अपना भाग बढ़ाते जा रहे हैं। पर इस दशक में अरुणाचल प्रदेश में ईसाइयत का जो प्रसार हुआ है वह ऐतिहासिक घटना है। अब असम एवं त्रिपुरा को छोड़कर शेष पूरा उत्तर-पूर्व ईसाई होने की ओर चल निकला है।

पाँच, मुसलमानों एवं ईसाइयों का अपने-अपने क्षेत्रों में विस्तार हुआ है, पर भारत के अन्य अनेक क्षेत्रों में हिन्दुओं ने भी जनसंख्या में अपने भाग में कुछ वृद्धि की है। 2011 के आँकड़ों में दिखने वाली यह एक नई प्रवृत्ति है। अगले दशकों में कदाचित् यह प्रवृत्ति और सुदृढ़ होगी और भारत की धर्मानुसार जनसंख्या में अनेक दशकों से बढ़ते असन्तुलन पर राष्ट्रीय माध्य स्तर पर कुछ अंकुश लग पायेगा। पर ईसाई एवं मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में तो हिन्दुओं का भाग घटता ही जायेगा, ऐसा लगता है।

नोट: धर्मानुसार जनसंख्या के विविध आयामों पर विस्तृत जानकारी एवं आँकड़ों के लिए www.cpsindia.org एवं www.blog.cpsindia.org देखें।

संन्यासियों का कुम्भ

बनवारी*

भारतीय समाज की एकता को सुनिश्चित करने में जितनी भूमिका राज्य की रही है, उससे कहीं अधिक भूमिका संन्यासियों की रही है। अपनी सुदीर्घ यात्राओं से वे वनों-पर्वतों को लाँघते रहे हैं और भारतीय समाज के पूरे विस्तार में उन्होंने अपनी उपस्थिति बनाये रखी है। हमारे आचार्यों ने अपनी ज्ञान साधना से पूरे समाज को आलोकित रखा है और साधकों ने अपनी तपस्या से भारत भूमि को पवित्र किया है। जहाँ साधारण गृहस्थों की गति नहीं है, वहाँ वे गये हैं और सुदूर तथा दुर्गम स्थानों पर जाकर उन्होंने भारत भूमि को देव भूमि बनाये रखा है। चतुर्विध विचरण करते रहने वाले अपने इन संन्यासियों को संन्यास आश्रम के अनुशासन में दृढ़ रखने और समाज से उनका सम्पर्क बनाये रखने के लिए ही हमारे आचार्यों ने कुम्भ की व्यवस्था की। आज जब कुम्भ अधिकाधिक संन्यासियों और सद्गृहस्थों के एकत्र होने का अवसर होता जा रहा है, हमें उसके इस मूल स्वरूप को और अच्छी तरह याद रखने की आवश्यकता है।

कुम्भ जैसा विलक्षण आयोजन संसार में दूसरा नहीं है। भारतीय समाज की कुम्भ में निष्ठा का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि 2013 में प्रयाग कुम्भ के समय त्रिवेणी के जल से पवित्र होने और संन्यासियों का सान्निध्य पाने के लिए दो माह की अवधि में कोई 12 करोड़ भारतीय वहाँ पहुँचे थे। मौनी अमावस्या के अवसर पर तो एक दिन में ही वहाँ तीन करोड़ भारतीय उपस्थित हुए थे। इन सभी को परम्परा से कुम्भ का उद्देश्य और महत्त्व ज्ञात रहा है। लेकिन हमारे विद्वत समाज में उसकी श्रुति लुप्त होती जा रही है। कुम्भ के मूल स्वरूप को समझकर उसके विस्तृत होते आकार के अनुरूप विधि निर्मित करने में हमारे समाज को जो पुरुषार्थ दिखाना चाहिए था, वह दिख नहीं रहा। ब्रिटिश शासन में उसे मेले से अधिक कुछ

*पूर्व सम्पादक, जनसत्ता; पता: बी-201, जनसत्ता अपार्टमेंट्स, सेक्टर-9, वसुन्धरा, गाजियाबाद-201 012 (उ. प्र.), मो. 09911450689

समझने की योग्यता नहीं थी। हमारे आज के राज्यतन्त्र ने ब्रिटिश शासन की इसी अधिकचरी समझ को ग्रहण कर रखा है।

कुम्भ के बारे में हमारे समूचे शिक्षा तन्त्र के अज्ञान की तो कोई सीमा ही नहीं है। आधुनिक शिक्षा का स्वरूप ही ऐसा है कि वह जीवित परम्परा पर नहीं, निर्जीव साक्ष्यों पर अधिक ध्यान देती है। हमारे आधुनिक विद्वानों ने पुराने साहित्य की जाँच-पड़ताल करके यह निष्कर्ष निकाला कि पुराणों में समुद्र मन्थन की कथा तो है, लेकिन पूरे साहित्य में कुम्भ का कोई उल्लेख नहीं है। इसलिए यह कोई पुराना आयोजन नहीं है। मुस्लिम काल और ब्रिटिश काल के कुछ उल्लेख अवश्य मिलते हैं। इसलिए वह तभी-कभी आरम्भ हुआ होगा। कुम्भ एक जीवित परम्परा है और उसे समझने के लिए उसका काल निर्धारण करना आरम्भ नहीं है। अगर काल निर्धारण के बजाय हमारे ये विद्वान आचार्यों और श्रीमहन्थों से विनयपूर्वक कुम्भ का उद्देश्य और उसकी विधियाँ समझने का प्रयत्न करते तो एक विशाल साहित्य निर्मित हो गया होता। इस तरह का साहित्य अपनी विधियों के बारे में हमारी स्मृति को बनाए रखने के लिए अब आवश्यक हो गया है। क्योंकि पिछली कुछ सदियों की पराधीनता के कारण और यूरोपीय सभ्यता के अवांछित प्रभाव के कारण समाज के अधिकांश लोगों में इन विधियों की स्मृति क्षीण होती जा रही है। इस स्मृति लोप का ही परिणाम है कुम्भ का केवल पुण्यदायी स्नान में सीमित होते चले जाना।

अपने शिक्षा तन्त्र को अपनी ज्ञान परम्परा से जोड़े रखने के लिए यह आवश्यक है कि हम समुद्र मन्थन की कथा की विशद् व्याख्या करें। हमारे अनेक पुराणों में उल्लिखित समुद्र मन्थन की कथा बड़ी सारगर्भित कथा है। वह बड़े विलक्षण रूप से हमारी सभ्यता-दृष्टि को उजागर करती है। समुद्र मन्थन की कथा की अन्तर्वस्तु अद्भुत है। उसमें देव हैं, असुर हैं, मन्दराचल पर्वत है और वासुकी नाग है। अर्थात् उसमें सृष्टि में दृष्ट देवी और आसुरी दोनों प्रवृत्तियाँ हैं और मन्दराचल पर्वतरूपी देश है और वासुकी नागरूपी काल है। सृष्टि का इससे सजीव रूपक क्या कोई और हो सकता है। देव, असुर और अमृत की व्याख्या हमें अपने संसार को फिर से समझने की दृष्टि दे सकती है। यह भी महत्वपूर्ण है कि समुद्र मन्थन के लिए केवल देव पर्याप्त नहीं समझे गये। उसके लिए देव और असुर दोनों आवश्यक माने गये। दैवी सम्पद् की साधना में लगे भारतीयों के लिए सत्य और बल अन्योन्याश्रित होते हुए भी प्रधानता सत्य की है। असुरों के लिए बल ही प्रधान है और वे सत्य को विस्मृत किये रहते हैं। लेकिन समुद्र मन्थन का कार्य इतना प्रकृष्ट है कि उसके लिए आसुरी बल भी चाहिए। पर इस समुद्र मन्थन से असुर अ-मृत न हों, अजेय न हों, यह आवश्यक है। सत्यहीन बल कितना पतनकारी हो सकता है, यह हम आज की यूरोपीय सभ्यता को देखकर समझ सकते हैं। समुद्र मन्थन की कथा इतनी सारगर्भित कथा है कि उसकी व्याख्या करते हुए हम अपनी सभ्यता दृष्टि को फिर से प्राप्त कर सकते हैं।

समुद्र मन्थन की कथा जितनी सारगर्भित है उतना ही महत्वपूर्ण कुम्भ का आयोजन है। कुम्भ मूल रूप से संन्यासियों का समागम है। क्योंकि हमारे सभी संगठन समाज का ही अंग हैं, इसलिए संन्यासियों के इस समागम में वृहत् समाज की उपस्थिति भी आवश्यक है। इस तरह कुम्भ शास्त्र परम्परा, साधना परम्परा और गृहस्थ समाज सभी का संगम है। यह आयोजन कब से हो रहा है। यह प्रश्न अनावश्यक है। सबको अपने अनुशासन में बनाये रखने की एक विधि के रूप में उनका किसी एक समय इकट्ठा होना आवश्यक समझा गया। शास्त्रकारों का ऐसा ही कुम्भ एक समय नैमिषारण्य में होता था। संन्यासियों को किसी एक समय एकत्र करने वाला आयोजन सदा ही रहा होगा। पर हमारी जातीय स्मृति में कुम्भ का आज जो स्वरूप है, उसका श्रेय आदि शंकराचार्य को दिया जाता है। संन्यासियों के बीच यह मान्यता चली आयी है कि संन्यासियों को एक अनुशासन में बाँधने के लिए उन्होंने दशनामी सम्प्रदाय आरम्भ किया था। आदि शंकर हमारे मूल आचार्यों में से एक हैं और उन्होंने अपनी परम्परा के सब संन्यासियों को दस वर्गों में बाँटा था। अपनी-अपनी धारा में अनुशासित रहते हुए वे कुम्भ के समय मिलें, यह व्यवस्था उन्होंने दी थी। आदि शंकर के बाद निम्बार्क, रामानुज, मध्व और वल्लभ सम्प्रदाय के संन्यासी भी कुम्भ में एकत्र होते रहे। इस तरह यह संन्यासियों का वृहत् आयोजन हो गया।

संन्यासियों में सामान्यतः दो प्रवृत्तियाँ होती हैं। कुछ संन्यासी शास्त्र के चिन्तन-मनन द्वारा आत्म-सन्धान की ओर प्रवृत्त होते हैं। वे ज्ञानमार्गी हैं और ऐसे संन्यासियों की मंडली शास्त्र ज्ञान में अग्रणी संन्यासी की देखरेख में आगे बढ़ती है। दूसरे वे संन्यासी हैं जो शास्त्र की जगह तपस्या को प्रधानता देते हैं। वे योगमार्गी हैं और ऐसे साधु आरम्भ में किसी-न-किसी गद्दी से जुड़े होते हैं। ये दोनों धाराएँ शास्त्र और तपस्या का अपनी साधना में आगे बढ़ने के लिए उपयोग करती हैं। अन्तर केवल इतना है कि एक के लिए शास्त्र प्रधान हैं और दूसरे के लिए तपस्या। यही कारण है कि ज्ञानमार्ग में अग्रसर होने वाले संन्यासी भी ऊँचे तपस्वी हुए हैं और तपस्या को प्रधान बनाने वाले संन्यासियों को भी शास्त्र की सभी आवश्यक बातों का ज्ञान रहता है। दोनों धाराओं को एक-दूसरे से जोड़े रखने की विधि हमारी सभ्यता की विशेषता है। दशनामी और वैरागी अखाड़ों में तप को साधन बनाने वाले संन्यासी अपने-अपने अखाड़े के अनुशासन में तपस्यारत रहते हैं। यह सभी अखाड़े पंचायती कहलाते हैं, क्योंकि उनमें कोई नियन्त्रणकारी व्यवस्था नहीं है। अखाड़ों में सब संन्यासियों की सहभागिता है और केवल व्यवस्था के लिए हर स्तर पर ज्ञान और तप में अग्रणी व्यक्ति को दायित्व प्रदान किया जाता है। अखाड़ों के शिखर पर श्रीमहन्थ होते हैं। पर श्रीमहन्थ का दायित्व निभाने के लिए परस्पर सहमति से अग्रणी संन्यासियों को निरन्तर बदलते हुए यह दायित्व दिया जाता है।

संन्यास आश्रम में दीक्षित करने का अधिकार आचार्य का है। जब कोई शास्त्र परम्परा का ब्रह्मचारी या योग परम्परा का साधु संन्यासी होने की अवस्था तक पहुँचता है तो उसकी प्रवृत्ति और योग्यता का आकलन करके उसे संन्यास आश्रम में दीक्षित करने का दायित्व आचार्य का है। हमारे यहाँ वेद, उपनिषद् और भगवद्गीता को प्रस्थान-त्रयी के रूप में स्वीकार किया गया है और जो उसकी नए सिरे से व्याख्या करने में समर्थ हुए हैं, उन्हें आचार्य स्वीकार किया गया है। वास्तव में पूरा भारतीय समाज आचार्य, राजा और पंचायत के शासन में रहा है और यह भारतीय समाज की विलक्षणता है कि तीनों ने एक-दूसरे की मर्यादा को अनुल्लंघनीय माना है। इसीलिए सबको नियन्त्रित करने वाला जैसा तन्त्र यूरोपीय जाति में पैदा होता रहा है, वैसा तन्त्र कभी भारतीय समाज से उत्पन्न नहीं हुआ। संन्यासियों में भी आचार्य का पद सबसे ऊँचा अवश्य है, पर वे श्रीमहन्थ की मर्यादा को अनुल्लंघनीय बनाये रखते हैं। इस तरह समाज के सभी अंग मर्यादाओं से बँधे रहे हैं। संन्यास आश्रम के सभी अंग मर्यादाओं का पालन कर रहे हैं या नहीं, यह देखने और सुनिश्चित करने के एक अवसर के रूप में ही कुम्भ की ख्याति रही है। सामान्यतः कुम्भ नए संन्यासियों को दीक्षित करने और विभिन्न सम्प्रदायों तथा अखाड़ों का नेतृत्व सही हाथों में है या नहीं, उन्हें पूरे संन्यासी समुदाय की स्वीकृति है या नहीं, यह सुनिश्चित करने के लिए है। इन संन्यासियों का मुख्य बल भी समाज है, क्योंकि अगर कोई संन्यासी, अखाड़ा या सम्प्रदाय अपनी मर्यादा से भटकता है तो वह समाज में अस्वीकार्य हो जाता है।

तप और साधना में निमग्न रहने वाले संन्यासी चरैवेति-चरैवेति की मर्यादा का पालन करते हुए दूरस्थ क्षेत्रों तक बिखरे रहते हैं। उनके किसी एक अवसर पर एकत्र होने का स्थान हृदय देश में होना चाहिए, क्योंकि तभी वह मुख्य समाज के सम्पर्क में रह सकते हैं। उनके एकत्र होने की अवधि भी ऐसी होनी चाहिए कि कुम्भ में उपस्थित होने के लिए उनकी साधना में बाधा न पड़े। यह देखते हुए 12-12 वर्ष बाद चार स्थानों पर कुम्भ आयोजित होने की व्यवस्था हुई। उत्तरवर्ती क्षेत्रों से आने वाले संन्यासियों के लिए हरिद्वार, पूर्ववर्ती क्षेत्रों से आने वाले संन्यासियों के लिए प्रयाग, पश्चिमवर्ती क्षेत्रों से आने वाले संन्यासियों के लिए उज्जैन और दक्षिणवर्ती क्षेत्रों से आने वाले संन्यासियों के लिए नासिक में कुम्भ आयोजित करने की व्यवस्था हुई। यह चारों नगर पुण्यदायी नदियों के तट पर बसे हैं। हरिद्वार तो हिमालय का द्वार ही है और हिमालय से निकलकर सुदीर्घ मैदान में प्रवाहित होने के लिए प्रकट हुई देवोपगा गंगा के तट पर बसा है। प्रयाग गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम होने के कारण त्रिवेणी तीर्थ कहलाता है। शिप्रा के तट पर बसी उज्जयिनी तो सदा भारतीय सभ्यता के मुख्य केन्द्रों में गिनी जाती रही है। गोदावरी के पावन जल से पवित्र होते रहे नासिक को दक्षिणवर्ती संन्यासियों का केन्द्र होने का गौरव रहा है। हरिद्वार और प्रयाग में छह वर्ष बाद अर्द्धकुम्भ आयोजित करने का भी विधान है।

संन्यासियों और गृहस्थों को निरन्तर सम्पर्क में बनाये रखने के लिए यह विधान किया गया है कि संन्यासी भिक्षा पर आश्रित रहें। भिक्षा भारतीय सभ्यता का एक विलक्षण विधान है। हमारे यहाँ भिक्षा देने वाला उपकृत होता है, भिक्षा लेने वाला नहीं। संन्यासी किसी गृहस्थ के दरवाजे पर पहुँचकर भिक्षा की याचना नहीं करता, वह गृहस्थों को शास्त्र द्वारा दिये गये आदेश की घोषणा करता है—भिक्षां देहि। भारत में लगभग एक प्रतिशत संन्यासी रहे हैं। उनके भरण-पोषण का दायित्व राजा या श्रेष्ठियों पर नहीं डाला गया। साधारण गृहस्थों पर डाला गया है। यही संन्यासियों और समाज को जोड़े रखने की विधि है। इससे न केवल समाज में एक नैतिक अनुशासन बना रहता है, बल्कि हम अपने भौतिक जीवन को इस तरह संयोजित करने के लिए प्रेरित होते हैं कि एक संन्यासी को भी उससे व्यवहार करने में सहज अनुभव हो। कुछ समय पहले तक हमारे अधिकांश गाँव अपने यहाँ भ्रमणशील संन्यासियों के रात्रि विश्राम और भोजन के लिए एक अलग स्थान बनाये रखते थे। मठ और मन्दिर तो उनके सावधिक विश्राम के स्थान रहे ही हैं।

पिछले छह-सात दशक से यूरोपीय जाति के अनुकरण पर हम जिस तरह का भौतिक ताना-बाना बनाने में लगे हैं, उसमें संन्यासियों का गौरव और उनकी उपस्थिति क्षीण होती चली जा रही है। कुम्भ में आज पहले से कहीं अधिक गृहस्थ पहुँचते हैं, लेकिन उनमें से अधिकांश नदी के पुण्यदायी स्नान में ही कुम्भ की इतिश्री देखते हैं। आचार्यों के बारे में, अखाड़ों के बारे में, आत्मज्ञान की साधना परम्परा के बारे में उनकी स्मृति लुप्त होती चली जा रही है। परम्परा से बँधे होने के कारण वे फिर भी कुम्भ से जुड़े हुए हैं। लेकिन हमारा राज्यतन्त्र और शिक्षातन्त्र तो कुम्भ के प्रयोजन को बिल्कुल विस्मृत कर चुका है। उसे न सम्प्रदायों का ठीक से कोई ज्ञान है, न अखाड़ों का। वे जैसी भौतिक व्यवस्था बना रहे हैं, उसमें साधु-संन्यासियों की कोई भूमिका ही नहीं है। बड़े और मझोले शहरों में तो भिक्षा की गौरवमयी परम्परा ही समाप्तप्राय है। साधु-संन्यासी अब शहरों को अपने जाने योग्य जगह ही नहीं समझते। हमने केवल संन्यासियों का सान्निध्य ही नहीं छोड़ा, अपने नैतिक जीवन को पूरी तरह अस्त-व्यस्त कर दिया है। विक्रम संवत् 2072-73 में एक के बाद एक नासिक, कुम्भ, हरिद्वार का अर्द्धकुम्भ और उज्जैन कुम्भ के आयोजन का अवसर उपस्थित हुआ है। उज्जैन का सिंहस्थ तो अभी आरम्भ होना है। इस अद्भुत संयोग से देश के सभी अग्रणी लोगों का ध्यान कुम्भ की ओर आकर्षित होना चाहिए। अगर हमारे राज्यतन्त्र और शिक्षातन्त्र के सबसे प्रतिभावान लोग कुम्भ के प्रयोजन और विधियों को समझने में लगेँ और हम अपनी शास्त्र परम्परा, साधना परम्परा और समाज के इस सामूहिक अनुष्ठान के मूल स्वरूप को फिर से लौटा पाये तो यह बहुत बड़ी उपलब्धि होगी।

आधुनिकता का भटकाव

पवन कुमार गुप्त*

हम एक भयंकर भटकाव के दौर से गुज़र रहे हैं, ऐसा लगता है। ऐसा नहीं कि यह अभी अभी शुरू हुआ हो, लेकिन अभी अपनी चरम सीमा पर है। यह कब तक चलेगा कहना मुश्किल लगता है। लगना और दिखना एक तरह का और होना (असलियत) सर्वथा अलग—यह इस दौर का छलावा है और खूबी भी। कथनी और करनी के भेद पर बहुत बातें होती हैं, तंज़ भी कसे जाते हैं, लेकिन अभी जो हो रहा है वह उससे आगे की बात है—यह फरेब है। और इस फरेब में सब शामिल हैं। “राजा नंगा है”। सभी को जानना चाहिए, पर बहुत से हैं जो नहीं जानते—इस बात को, उन्हें नंगापन क्या होता है, इसका भी भान नहीं रह गया है। और इनकी संख्या बढ़ रही है—आधुनिक शिक्षा, तकनीक, बाज़ार, मीडिया सभी एकजुट हैं इस प्रयास में। और कोई साजिश हो ऐसा भी नहीं। यही तो माया है! यह है आधुनिकता का प्रभाव।

ऐसा लगता है जैसे आधुनिक मनुष्य अपने ‘होनेपन’ से ही दूर हो चला है। उसको ‘लगना’/ ‘दिखना’ (इंप्रेशन) ही, ‘होना’ (सच्चाई) लगता है। बात शायद कुछ उदाहरण से समझ आए। वैसे उदाहरणों से अमूर्त को समझाना अपने आप में टेढ़ी खीर है, खतरा भी है—घोड़े को गधा समझने का—फिर भी... कोशिश करते हैं। सम्मान सभी को चाहिए। यह मानव स्वभाव में निहित है। इसे बदला नहीं जा सकता। यह मनुष्य की खूबी है। अब इसके लिए पद, पैसा, शोहरत, इत्यादि की जुगत में मनुष्य रहने लगा है। यह सब जब मिल जाता है तो उसे ‘लगने’ लगता है कि उसे सम्मान मिल गया। आधुनिक मनुष्य का यह विवेक गायब है जो उसे बताए कि यह सम्मान उसको नहीं, उसके पद, पैसे को मिल रहा है। यह सब नहीं रहता तो सम्मान भी नहीं रहता, उसके पास। उसकी मान्यता टूटने के बजाय और पुष्ट होती चली जाती है। वह यह देखने की जरूरत नहीं समझता कि ऐसे लोग भी हैं जिन्हें सचमुच का सम्मान मिलता है—बिना पैसे और पद के। इस दो प्रकार के सम्मान में वह भेद

नहीं कर पाता। ठीक उसी तरह जैसे वह प्रेरणा (inspire) और प्रभाव (impress) में भेद नहीं कर पाता। जीवन भर प्रभाव में जीता है और प्रभावित करना चाहता है। यह प्रवृत्ति नकल को जन्म देती है। जबकी प्रेरणा मौलिकता को पोषित करती है।

कहने का अर्थ है कि आधुनिक व्यक्ति अपने से दूर हो गया है। यह पहले कहे जाने वाले मुहावरे, ‘कथनी और करनी में भेद’ वाली बात से अलग है। कथनी करनी वाली बात बेईमानी या कमजोरी का बयान है और कुछ यथा स्थिति का बखान। क्योंकि जितना हम सोचते हैं उतना कर नहीं पाते—यह एक यथार्थ है। इसी फर्क की वजह से ‘आदर्श’ की बात होती है। पर आज जो हो रहा वह तो एक तरह की बदहोशी है—पता ही नहीं।

इस वजह से आज का पढ़ा लिखा वर्ग आस्था को, ईश्वर को भी खुले रूप से स्वीकारने, इन सब की बात सार्वजनिक जगहों पर करने से बचता है। शायद संकोच करता है, कहना ज्यादा सही होगा। इसलिए भारत का पढ़ा लिखा वर्ग अपने ही आम आदमी से दूर हो गया है, जो आज भी ईश्वर में आस्था रखता है। हाँ यह तबका आम आदमी की दुहाई बहुत देता है। यह तबका महात्मा गांधी की बहुत बातें करता है पर गांधी की जो आस्था और विश्वास भारत के आम जन में थी, जो आस्था उनकी ईश्वर में थी, उसको वह समझना भी नहीं चाहता।

शायद महात्मा गांधी ने ‘साधारण’ (लोग भी, उनकी बातें भी, व्यवहार भी, और चीजें भी) को बहुत बारीकी से देखा और समझने का प्रयास किया। उन्हें अपनी दादी की कहानियों, किस्सों, बातों में दम लगा होगा। उन्होंने बचपन में अपने पोरबंदर के समाज में जो देखा होगा उसमें कुछ मजबूत, कुछ अच्छा और सामर्थ्य दिखाई दिया होगा। अति संवेदनशील गांधी को लंदन में ये सब याद आया होगा। वे वहाँ सोचते होंगे कि मैं किन लोगों के बीच आ गया? यह कैसा देश है जो दुनिया पर राज कर रहा है पर यहाँ समाज नाम की कोई वस्तु दिखाई नहीं पड़ती। या तो व्यक्ति (अच्छे व्यक्ति भी दिखाई दिये होंगे, निश्चित) या राज्य सत्ता, पर समाज गायब। और उन्हें राष्ट्र और समाज के बीच का भेद समझ आने लगा होगा... शायद। सामरिक और आर्थिक शक्ति, समाज विहीन, व्यक्तिपरक राष्ट्र के पास हो सकती है, पर साधारण, आम आदमी की शक्ति तो शक्तिशाली, विवेकशील समाज में ही निहित होती है। भारत में, बावजूद लंबी गुलामी के, उन्हें यह दिखा होगा।

भारत के आम आदमी की आस्था में एक ऐसी शक्ति में, जो संसार की किसी भी शक्ति से बड़ी हो, इस विश्वास में गांधी जी ने बड़ी उम्मीद देखी होगी...अनेकों संभावनाएँ... समाज और साधारण को फिर से सामर्थ्यवान बनाने की। इस शक्ति के सगुण रूप उतने महत्वपूर्ण नहीं होते जितने की निर्गुण। निर्गुण में आस्था अपने आप सगुण पक्षों को गौण करने की क्षमता रखती है। सगुण याने पैसा, गाड़ी घोड़ा, पद इत्यादि, और निर्गुण यानि विश्वास, सम्मान, संतोष, सहजता इत्यादि। इस समझ से

*Society for Integrated Development of Himalaya, (SIDH),

फिर होड़, प्रतिस्पर्धा, दिखावा इत्यादि व्यक्ति को संचालित नहीं करते। इसकी जगह सहजता प्रमुख हो जाती है। इसमें साधारण ही श्रेष्ठ होता है।

हमारा देश आत्म-संकोची हो गया है। खुल कर अपने अंदर की बात आसानी से नहीं करते हम लोग। जिस माहौल में होते हैं वहाँ के मुहावरे और वहाँ जो चलता है, उसका अनुमान पहले लगाते हैं; हिसाब-किताब लगाते हैं, और फिर बोलते हैं। इसका मेल, अंदर के निजी अनुभव, निजी विश्वास के साथ बैठता है या नहीं, इस ओर ध्यान नहीं रहता। एक तरह का मुखौटा पहने रखते हैं। ये मुखौटे भी नाना प्रकार के होते हैं। घर और बाहर की दुनिया में तो अलग होते ही हैं। बाहर की दुनिया में भी भिन्न भिन्न प्रकार के। सेमीनारों के, राजनीतिक माहौल के बीच वाले, अपने मित्रों की मंडली के बीच (और मित्रों की मंडलियाँ अगर अलग अलग हुई तो ये मुखौटे भी उनके, इन विभिन्न मंडलियों के बीच बदलने पड़ते हैं), काम धंधे वाले माहौल में अलग, हिन्दूओं के बीच अलग, मुसलमानों के बीच अलग, विभिन्न जाति समुदायों के बीच अलग, इत्यादि इत्यादि।

यह रोग इक्के दुक्के में होता तो इसे व्यक्तिगत रोग के रूप में देखा जा सकता था। पर यह तो हमारे पूरे पढ़े-लिखे समाज में फैला हुआ है। अंग्रेजों के जमाने से घर और बाहर की दुनिया के बीच फासला बढ़ने लगा। और यह लगातार बढ़ते जा रहा है। उसके पहले घर और बाहर के बीच नजदीकियाँ थीं। एक ही बोली घर में, वही बाहर भी। उठना बैठना, खान पान, बातचीत के मुद्दे, रीति रिवाज, पूजा भजन, इत्यादि अनेकों बड़े छोटे आयामों में घर और बाहर की दुनिया में ज्यादा फर्क नहीं था। अंग्रेजों के समय से सब तेजी से बदलने लगा। घर पहले जैसा रहा या बहुत धीमी गति से बदला और बाहर की दुनिया तेजी से बदलने लगी। इसका असर आदमी और औरत के रिश्ते पर भी पड़ा। पुरुष और महिला के बीच फासला बढ़ा, पुरुषों की दुनिया तीव्र गति से बदलने लगी, महिलाओं की वैसी ही रही या बड़ी धीमी गति से बदली। इस दौड़ में महिलाओं की शक्ति घटती चली गई। यह घटना बहुत पुरानी नहीं है पर हमें ऐसा समझाया गया और हमने 'अच्छे' विद्यार्थी की तरह यह समझ लिया की इस देश में हमेशा ही ऐसा रहा है। यही बात विभिन्न जातियों पर भी लागू होती है। अंग्रेजों से पहले विभिन्न जातियों के बीच सहज संवाद चलता ही रहता था। सब अपने अपने ढंग से रहते थे, उनके कुछ तरीके अलग होंगे (इसी को तो विविधता कहते हैं) पर उनके बीच संवाद होते रहता था, उनके बीच की दूरियाँ ज्यादा नहीं थीं। अंग्रेजों से जिन लोगों ने बड़ी लड़ाइयाँ लड़ीं उनमें आदिवासी भी थे, आज की भाषा में जिन्हे पिछड़ा और दलित कहा जाता है, वे भी थे। हमारे इतिहासकारों ने यह जानने की जरूरत नहीं समझी है कि अंग्रेजों से लड़ाई में रानी झाँसी के अलावा कितनी ही वीरांगनाओं ने घोड़े पर बैठ कर, तलवार और ढाल से उनका सामना किया। झलकारी देवी का एक नाम कुछ एक लोग जानते हैं, शेष महिलाओं का नाम भी आना चाहिए। सोचने की बात है की

ये तथाकथित पिछड़े और दलित जातियों से आने वाली महिलाओं ने एक ही दिन में घोड़े पर बैठना और तलवार और ढाल चलाना सीख लिया होगा क्या? निश्चित तौर पर यह परंपरा रही होगी। पर हमें एक ऐसा अंदाज़ दिया गया कि लड़ना (घोड़े पर बैठना, तलवार चलाना सिर्फ राजपूत, क्षत्रिय ही करते थे। कहने का अर्थ सिर्फ यहाँ इतना ही है कि अंग्रेजों के आने से पहले हमारे समाज में ज्यादा बराबरी थी—पुरुष महिला के बीच और विभिन्न जातिगत समाजों के बीच। यदि इसकी भी छानबीन की जाय ठीक से कि आज़ादी के वक्त भी जितने राजा थे, विभिन्न 500 से ज्यादा रियासतों के, उन राजाओं की असली जाति क्या थी, तो सब राजपूत या क्षत्रिय नहीं निकलेंगे, उनमें से कई पिछड़ी और दलित जातियों से भी निकलेंगे—यदि सही ढंग से शोध हो। इस प्रकार की शोध हमें करनी चाहिए। रानी रासमानी जिसने कलकत्ता की विक्टोरिया की ज़मीन, अंग्रेजों को दान में, गोचर भूमि की शर्त पर, दी, वे पिछड़ी जाति की थी, जिनके यहाँ कोई ब्राह्मण पुजारी बन कर काम नहीं करना चाहता था और तब स्वामी रामकृष्ण परमहंस वहाँ लाये गए। हम इन तथ्यों को जोड़ते नहीं हैं और सेमीनारों में, सार्वजनिक रूप से रटे रटाये, झूठे मुहावरों में बोलते चले जाते हैं क्योंकि ऐसी ही आदत पड़ गई है। यही चलता है, चलाते रहो। और बुद्धिजीवी वर्ग को भाजपा, और आर एस एस का ऐसा खौफ है कि कोई उन पर यह तोहमत लगा दे तो क्या होगा? इस भय से जो रहा सहा है वह भी जाता रहता है।

गांधी की बात करते हैं पर उनकी अहम बातों को या तो नजरअंदाज करते हैं या छुपा जाते हैं। वे साधारण आदमी को बेचारा नहीं समझते थे, उन्हें तो साधारण में शक्ति दिखती थी, साधारण से वे शक्ति प्राप्त करते थे। और उन्हें साधारण में इस शक्ति का श्रोत भारतीयता (सभ्यता) में दिखता था और ईश्वर में उसकी आस्था में। उनकी ईश्वर में आस्था साधारण की वजह से आई या अलग तरीके से, मैं नहीं कह सकता। पर इसमें उनके और साधारण के बीच तालमेल था। यही उनको भारत के लोगों से जोड़ता था। भारत के साधारण की बुनियादी समझ के प्रति वे नतमस्तक थे, और ईश्वर के प्रति आस्था भी उनमें अटूट थी। इन दोनों के प्रमाण उन्हें मिलते भी रहते थे। उन्हें मिलते इसलिए थे कि वे पहले से इसके प्रति जागरूक और संवेदनशील थे। हम नहीं हैं इसलिए हमें प्रमाण भी नहीं मिलते। भारत के अन्य नेता बाएँ (लेफ्ट) से दायें (राइट) तक किसी में भी ये दोनों ही गुण नहीं थे। उन्हें भारत का साधारण बेचारा और/या मूर्ख ही लगता था जिसे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक करना है। वे चाहे लोहिया हों, जय प्रकाश हों या नेहरू हों, या तिलक हों, मालवीय जी हों, हेगडेवर हों, अंबेडकर हों, जिन्ना हों—कोई भी हों।

इस गुल्मी को कि भारत के साधारण में कौन सी ताकत है जिसे गांधी देख पाते थे—विचारणीय बिन्दु है। इसमें यदि हम अपने ही बनाए आत्म संकोच से उबर पाएँ तो आसानी होगी।

विश्व, राष्ट्र एवं धर्म : सनातन एवं समकालीन भारतीय सन्दर्भों में

सुधीर कुमार*

प्रस्तावना :

प्रस्तुत आलेख में सनातन और समकालीन सांस्कृतिक/आर्थिक/राजनीतिक/ पर्यावरणीय विमर्शों एवं विषयों के सन्दर्भों में भारतीय चिन्तन परम्परा में उपलब्ध और निरन्तर विकासमान—“विश्व”, “राष्ट्र” एवं “धर्म” के प्रत्ययों के प्रारम्भिक और संक्षिप्त समीक्षात्मक विश्लेषण का प्रयास किया गया है। कहना न होगा कि भारतीय मनीषा के केन्द्र में “धर्म” सदैव रहा है—और आगे भी रहेगा—यदि भारत अपनी जातीय/राष्ट्रीय चेतना और स्मृतियों के आधार पर ही एक मूल्य-केन्द्रित वैश्विक-परिवार का सदस्य रहेगा। अभी हाल में घटित हुई घटनाओं के सन्दर्भ में (रोहित वेमुला-आत्महत्या तथा जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय प्रकरण इत्यादि) यह रेखांकित करना आवश्यक है कि कतिपय भारत-विरोधी शक्तियों द्वारा, जो कि 1947 के बाद से ही कांग्रेस तथा वामपन्थी सत्ता संरचनाओं द्वारा पोषित/संरक्षित रही हैं, भारत की “धर्म-केन्द्रित” विश्व, राष्ट्र समाज और संस्कृति की लोक-प्रचलित अवधारणाओं/ज्ञान परम्पराओं पर तीखे प्रहार किये जा रहे हैं; और इसी भारत-विरोधी सांस्कृतिक-राजनीतिक जुगलबन्दी में कुछ मीडिया-पंडितों, नेताओं, अवसरवादी बुद्धिजीवियों, विश्वविद्यालय-स्थित, प्राध्यापकों और विद्यार्थियों द्वारा भारत की बहुकेन्द्रीय, बहुलार्थक एकात्मकता की सहिष्णुता बनाम असहिष्णुता जैसे थोथले और वितंडावादी नारों से अवमानना/अपमान के प्रयास भी लगातार किये जा रहे हैं। अतः यहाँ, इस आलेख में, संक्षिप्त रूप से, “विश्व”, “राष्ट्र/प्रजा” और “धर्म” के प्रमुख भारतीय अर्थों की विवेचना का प्रयास

*आचार्य (अंग्रेजी), डी.ई.एस. बहु अनुशासनिक शोध केन्द्र, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ (भारत)-160014, ksudhir.62@gmail.com; मो. 09876675149; पता : एफ-27, सेक्टर-25, चंडीगढ़-160014 (भारत)

किया जायेगा—क्योंकि इन्हीं प्रत्ययों और उनके भारतीय लोक-केन्द्रित, धर्म-केन्द्रित, विश्वकल्याण-केन्द्रित अर्थों को प्रदूषित करने का एक सामूहिक प्रयास वामपन्थी/ कांग्रेस-पोषित बुद्धिजीवियों और कट्टरपन्थी विचारधाराओं को प्रचारित करने वाले छद्म बुद्धिजीवियों द्वारा आजकल द्रुत गति से हो रहा है।

भारत में “विश्व” : “विश्व” में भारत

भारतीय संस्कृति में “विश्व” की विस्मयकारी बहुलार्थकता द्रष्टव्य है—

विश्व (विश् + व) - (संस्कृत)

1. सारे, सारा, समस्त, सार्वलौकिक”।

2. “प्रत्येक, हरेक,”।

3. “सम्पूर्ण सृष्टि” “समस्त संसार” (वामन शिवराम आप्टे, 958) अंग्रेजी में यदि इन्हीं अर्थों को अनूदित रूप में देखा जाय तो

to pervade; all; every, every one, whole, entire, universal, all-pervading or all-containing; the intellectual faculty or the faculty which perceives individuality or the individual underlying the gross body.” (M. Monier - Williams, 1449)

ध्यातव्य है कि “विश्व” की संकल्पना व्यष्टि तथा समष्टि, सृष्टि के सूक्ष्मतम से लेकर वृहत्तम अवयवों की समग्रतापरक अवधारणा है जिसमें लघुतम और महत्तम दोनों ही रूपों में सम्पूर्ण सृष्टि—जड़ और चेतन की समवायित सत्ता के रूप में ध्वनित होती है। यहीं यह विचारणीय है कि “विश्व” की मूल धातु “विश्” है (संस्कृत) जिसके अर्थों पर विचार करने से “विश्व” की अवधारणाओं के पीछे छिपे हुए उन संकेतों को भी समझा जा सकता है—जिनकी स्थापना अथवा आरोपण के कारण पश्चिमी विमर्श द्वारा संचालित “वैश्वीकरण” के खतरों को बड़ी आसानी से समझा जा सकता है—

विश् (संस्कृत)

1. “प्रविष्ट होना, जाना, दाखिल होना।”

2. “अधिकार में आना, किसी के हिस्से में पड़ना।”

3. “बैठ जाना, बस जाना।”

4. “घुस जाना, व्याप्त हो जाना।”

5. “स्वीकार करना, उत्तरदायित्व लेना।”

6. “घुसाना, प्रविष्ट कराना, प्रविष्ट होने की इच्छा करना।”
(वामन शिवराम आप्टे, 955)

7. “रंगमंच पर प्रकट होना”; “संयुक्त होना।” (किसी कार्य में) व्यस्त हो जाना। “बस्ती”; “सम्पत्ति”, “दौलत” (वामन शिवराम आप्टे, 1339)

जहाँ एक ओर भारतीय सांस्कृतिक चेतना/ज्ञान-मीमांसा में “विश्व” एक सृष्टिपरक, समग्रतावादी संज्ञा है, वहीं उसकी धातु “विश्व” के द्वारा उन संकेत-समूहों को आसानी से समझा जा सकता है जिनके अमानवीय आरोपण के द्वारा स्लेवरि (गुलाम-प्रथा/व्यापार), साम्राज्यवादी, उत्तर-साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी/उत्तर-उपनिवेशवादी, नस्लवादी इत्यादि सत्ता-संरचनाओं/संस्थाओं/प्रथाओं को पश्चिमी (यूरोपीय, अमेरिकी) शक्तियों/राष्ट्रों द्वारा विश्व इतिहास में स्थापित किया गया। संस्कृत-धातु “विश्व” में ही उपनिवेशवादी/उत्तर-उपनिवेशवादी राजनीतिक/आर्थिक/ सांस्कृतिक वर्चस्व के उन सभी अर्थों का समावेशन है जिससे—“प्रविष्ट होना, अधिकार में आना, किसी के हिस्से में आना, बस जाना, घुस जाना, व्याप्त हो जाना, उत्तरदायित्व लेना, प्रविष्ट करना, “बस्ती, सम्पत्ति” इत्यादि विश्व-इतिहास में भयंकर शोषण, नरसंहार, युद्ध, उत्पीड़न, अमानवीय अत्याचार, जो उपनिवेशवादी/उत्तर-उपनिवेशवादी राष्ट्रों पर निरन्तर सम्पादित किये, की प्रक्रिया के अभिन्न अंग के व्यंजक बन गये।

यहाँ अंग्रेजी में समान्तर शब्द “WORLD” जिसे सामान्य रूप से “विश्व” का समानार्थी समझा जाता है, की संक्षिप्त व्याख्या की जा सकती है। “WORLD” से अभिप्राय होता है— the earth, with all its countries, peoples and natural features”, “a particular part of the earth; “a particular group of countries or people; “a particular period of history and the people of that period,” “a planet like the earth” : “the people or things belonging to a particulars group or connected with a particular interest, job, etc.; a person’s environment, experiences, family, friends, our society and the way people live and behave; the people in the world; a way of life where possessions and physical pleasures are important rather than spiritual value; the state of human existence etc. (Oxford Advanced Learner’s Dictionary, Oxford; Oxford Univ. Press, 2005, p. 1762)

स्पष्ट है कि “WORLD” और “विश्व” समानार्थी नहीं हैं—“WORLD” — किसी एक विशिष्ट मानव-समूह अथवा समस्त पृथ्वी के मानव-समाज और उसकी वस्तुओं से लेकर उस जीवन-पद्धति का भी व्यंजक है जिसमें भौतिक वस्तुओं और सुख-सुविधाओं के संग्रह को, आध्यात्मिक अथवा नैतिक मूल्यों के आचरण की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाता है। अतः “WORLD” मानव-केन्द्रित व्यंजक रहा है जबकि “विश्व” समस्त सृष्टि की समता और समग्रता का द्योतक है—जिसके मूल में समस्त सृष्टि/ब्रह्मांड के प्रति भारतीय आध्यात्मिक दृष्टि है। अकारण नहीं है कि पश्चिमी सभ्यता के भौतिकतावादी/उपभोक्तावादी “वैश्विक” विमर्श ने ही औद्योगिक क्रान्ति और तत्पश्चात् मीडिया, प्रौद्योगिकी और सूचना क्रान्तियों का “विशिष्ट-मानव केन्द्रित” रूप सर्वत्र स्थापित / आरोपित किया। विश्व-इतिहास में हुए दो भयंकर विश्व-युद्धों, गृह-युद्धों, आतंकवादी हिंसा की असंख्य घटनाओं के पीछे संचालक

शक्ति के रूप में इसी “WORLD” की एक विशिष्ट संकल्पना ही है। आज सम्पूर्ण पृथ्वी भूतापीकरण (ग्लोबलवार्मिंग) के खतरों के कारण विनाश की कगार पर पहुँच चुकी है। कारण है—“WORLD” की पश्चिमी अवधारणा, जिसके अवकाश में “सृष्टिपरक दृष्टि” का अभाव है—तथा जो विश्व को एक संसाधन मात्र मानती है।

संक्षेप में यहाँ अथर्ववेद के भूमि सूक्त / पृथ्वी सूक्त का उदाहरण दिया जा सकता है—जिसके द्वारा वैदिक, भारतीय मनीषा ने समग्रतावादी, आध्यात्मिक, नैतिक आचरणपरक, सृष्टिधर्मी “विश्व” की अवधारणा को मानवता के कल्याण के लिए, सृष्टि के कल्याण के लिए, हमारे समक्ष रखा—और जिसके सनातन महत्त्व को आज के सन्दर्भों में (आतंकवाद, असहिष्णुता, राष्ट्र / देशप्रेम, उपनिवेशवाद / उत्तर-उपनिवेशवाद, पर्यावरणीय चेतना, बहुसांस्कृतिकतावाद का अभाव इत्यादि) अनदेखा नहीं किया जा सकता। बारहवें अध्याय में (1-63) अथर्वा ऋषि द्वारा विश्व अथवा पृथ्वी चेतना के तत्त्वों का निरूपण किया गया है—

“सत्यनिष्ठा, यथार्थ बोध, दक्षता, तेज, तप, ब्रह्मज्ञान और त्याग-बलिदान—ये भावभूमि अथवा मातृभूमि का पालन-पोषण और संरक्षण करते हैं। भूतकालीन और भविष्य में होने वाले सभी जीवों का पालन करने वाली मातृभूमि हमें विस्तृत स्थान प्रदान करे।” हमारी जिस भूमि के मनुष्यों के मध्य (गुण, कर्म, और स्वभाव की भिन्नता होने पर भी) परस्पर अत्यधिक सामंजस्य और ऐक्य भाव है, जो हमारी मातृभूमि रोगनाशक औषधियों को धारण करती है, वह हमारी कामना पूर्ति और यशोवृद्धि का साधन बने।

(अथर्ववेद अध्याय 12.1.63 पृ. 1-10)

समस्त जल स्रोतों, औषधि वनस्पति-स्रोतों, पशुओं, कृषि कर्मी (कृषकों), शिल्पकर्मी, सभी पशुओं, खनिज स्रोतों, कल्याणकारी कार्यों/पदार्थों, ज्ञानकर्मी, पर्वत और वन, “माता भूमि, पुत्रोऽहं पृथिव्यां” राष्ट्र के शत्रुओं, अनिष्ट चाहने वाली, परतन्त्रता में जकड़ने वाली शक्तियों के नाश की आकांक्षा, सूर्य, चन्द्र, परस्पर मैत्री भाव, सभी दिशाओं, अन्तरिक्ष, अग्नि, सम्पूर्ण सृष्टि का कल्याण हो—ऐसी इच्छा, अनेक प्रकार की धार्मिक मान्यतावालों और विभिन्न भाषा-भाषी जन समुदाय को एक परिवार के रूप में धारण करने वाली आश्रय देने वाली, पृथ्वी हमें ऐश्वर्य प्रदान करने वाली हो। गाँव, नगर, वन, सभाएँ सभी कल्याणकारी हों; हे पृथ्वी आप हमें कल्याणकारी प्रतिष्ठा से युक्त करें।” (अथर्ववेद, वही)

अतः अथर्ववेद की इस पृथ्वी/भूमि/विश्व की दृष्टि मूलतः विश्व/सृष्टि के समस्त अवयवों के कल्याण की कामना करती है—बहुलतावादी/बहुवचनात्मक जीवन-दृष्टि विभिन्नता में सौहार्द्रजनित ऐक्य की कामना के महत्त्व को भी रेखांकित करती है; वहीं राष्ट्रद्रोही, पृथ्वी/भूमि के विनाश के लिए उत्तरदायी शक्तियों के विनाश की कामना भी रेखांकित करती है। सम्पूर्ण सृष्टि के प्रति यही पावनता, ऐक्य की भावना, जो भारतीय

आध्यात्मिक/धार्मिक दृष्टि के मूल में है भारतीय संस्कृति को पश्चिम की भौतिकतावादी “वैश्विक” दृष्टि से अलग करती है। और इन्हीं अर्थों में भारतीय राष्ट्रवाद पश्चिमी राष्ट्रवाद से प्रमुखता के साथ भिन्न है क्योंकि भारत का “भूमि/पृथ्वी” का मूल्य-परक, सृष्टि-कल्याणपरक, बहुलतावादी विमर्श मात्र मानव प्रगति केन्द्रित या एन्थ्रोपोसेंट्रिक नहीं हो सकता। भारत का देशप्रेम/राष्ट्रप्रेम वस्तुतः व्यक्ति/परिवार/स्थानीय परिवेश-प्रकृति-पर्यावरण/देश-राष्ट्र-विश्व को विश्व-दृष्टि का उतना ही महत्वपूर्ण अवयव मानती है जितना सम्पूर्ण सृष्टि को। अतः गाँधी जी के शब्दों से प्रेरित होकर कहा जाए तो यही कहा जायेगा कि हमारी सर्वोदयी दृष्टि ही हमारे “स्वराज” का निर्धारण करती है — और इसी आचार-केन्द्रित, मूल्यपरकता का निदर्शन हमें अपने वाङ्मय में—*रामायण*, *महाभारत*, दर्शन, उपनिषद्, वेद, पुराण, भक्ति आन्दोलन, स्वतन्त्रता-आन्दोलन इत्यादि में भी मिलता है। यहाँ हमारी सर्वोदयी दृष्टि में परस्पर अन्तर्विरोधों, बहसों, विकेंद्रित विमर्शों, विवादों का समाहार एक समग्रतावादी, नैतिक/आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि के द्वारा होता है—किसी नस्लवादी, उपनिवेशवादी/उत्तर-उपनिवेशवादी सत्ता के आतंक (और उससे समर्थित हिंसा और शोषण) द्वारा नहीं।

धर्म-केन्द्रित जीवन-दृष्टि

“धर्म” अंग्रेजी शब्द ‘रिलीजन’ का पर्याय नहीं है, जैसा कि आम तौर पर बड़े संकुचित अर्थों में भारत में मान लिया गया है। इस विषय की विवेचना यहाँ स्थानाभाव के कारण नहीं की जा रही है। किन्तु धर्म अपने व्यापक और मूल अर्थों में—“कर्तव्य, जाति-सम्प्रदाय के आचार के पालन के अर्थों में, कानून, नैतिक गुण, भलाई, नेकी, अच्छा काम, अधिकार, न्याय, निष्पक्षता, पवित्रता, शालीनता, नैतिकता, प्रकृति, स्वभाव, मूल गुण, विशेषता, रीति, समानता, सत्संग, भक्ति,” इत्यादि (वामन शिवराम आपटे, 489) का वाचक है और नैतिकता, कर्तव्यपरायणता, कानून, पवित्रता, शालीनता, समानता और सत्संग भारत की सृष्टि-संवेदी जीवन-दृष्टि के मूल में हैं। अतः धर्म-निरपेक्ष जीवन-दर्शन भारत की संस्कृति में सम्भव नहीं हैं—यहाँ आस्तिक और नास्तिक—वैदिक/सनातन/हिन्दू तथा जैन/बौद्ध आध्यात्मिक दृष्टियों में विभिन्नता/भेद के बावजूद तात्त्विक एकता/ऐक्य है—“धर्म” के प्रश्न पर ये सभी जीवन-दृष्टियाँ प्रमुखता से समान हैं और एक-दूसरे का अन्तर्पाठ कही जा सकती हैं।

मनुस्मृति (6.92., पृ. 285) में धर्म के दस लक्षण कहे गये हैं जो कि सार्वभौमिक कहे जा सकते हैं ‘यदि मानव समुदाय को एक सह-अस्तित्ववादी एवं अहिंसापरक विश्व में रहना है तो इन दस लक्षणों को इस “धर्म” को, चाहे किसी भी अन्य नाम से ही क्यों न इसे कहा जाए, केन्द्र में रखकर ही एक सर्वोदयी, नैतिक, आचरणपरक जीवन-दृष्टि का निर्माण करना होगा—

“सदा धैर्य रखना, क्षमा, दम (मन को धर्म में लगाकर अधर्म से रोक देना), अस्तेय यानी चोरी न करना, त्याग, शौच यानी अन्दर और बाहर की पवित्रता (चरित्र की पवित्रता),

इन्द्रिय-निग्रह (अधर्माचरण से रोक कह इन्द्रियों को धर्म में लगाना, बुद्धि, सद्बुद्धि) विद्या, सत्य, अक्रोध अर्थात् अहिंसा या प्रेम—ये धर्म के दस लक्षण हैं।”

उपसंहार

धर्म-केन्द्रित भारतीय जीवन-दृष्टि की बहुकेन्द्रिकता और बहुलार्थकता, उसकी मूल्य-आचरण-परकता, तथा उसकी सर्वोदयी, सृष्टि-संवेदी, समग्रतावादी, संवादपरक लौकिक तथा आध्यात्मिक परम्परा/जीवन-पद्धति पर तथाकथित भारतीय/यूरोपीय/अमेरिकी विद्वानों द्वारा लगातार प्रहार हुए हैं—होते रहेंगे भी, क्योंकि यह दो विश्व-दृष्टियों के मध्य संवादहीनता को दर्शाता है। समस्या यह है कि पश्चिमोन्मुखी, मुख्यतः नववामवादी, छद्म उदारवादी धर्मनिरपेक्षतावादी बुद्धिजीवी वर्ग, जो भारत की सांस्कृतिक संस्थाओं, विश्वविद्यालयों इत्यादि में सत्ता पर विद्यमान है, वह भारतीय धर्मकेन्द्रित जीवन-दृष्टि को विस्थापित करना मूल्यविहीन, सिद्धान्तपरक—आचरण-शून्य, नव उपनिवेशवादी जीवन-दृष्टि को भारतीय जन-मानस पर आरोपित करना चाहता है। किसी भी सांस्कृतिक, सार्थक संवाद के स्थान पर ये पश्चिमोन्मुखी बुद्धिजीवी विवाद, प्रतिवाद, वितंडा और विग्रह का सहारा लेकर सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति पर कीचड़ उछालते रहते हैं। परिणामतः कुछ भारतीय विश्वविद्यालयों में एक उग्र अपसांस्कृतिक राष्ट्रवाद (जिसे इस वर्ग द्वारा सच्चा भूमंडलवाद/अथवा सबामंटर्निज्म भी कहा जाता है) को अभूतपूर्व आश्रय तथा पोषण मिला है। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, केन्द्रीय विश्वविद्यालय हैदराबाद इत्यादि स्थानों पर जिस वैमर्शिक हिंसा के द्वारा विद्यार्थियों/अध्यापकों को प्रताड़ित किया जाता रहा है, और जिस वैमर्शिक, अति वामपन्थी विचारधारात्मक वर्चस्व के विरुद्ध कोई आवाज़ भी नहीं उठा सकता था, उस विचारधारात्मक वामपन्थी/छद्म बौद्धिकता का वीभत्स, घिनौने रूप आज भारतीय जनता के समक्ष आ चुका है। समय आ गया है कि धर्म-केन्द्रित आचरणपरक जीवन-दृष्टि में आस्था रखने वाले भारतीय बुद्धिजीवी संगठित होकर सच्चे राष्ट्रप्रेम का प्रचार, प्रसार तथा आचरण अपने स्वयं के कार्यक्षेत्र में करें।

सन्दर्भ

1. वामन शिवराम आपटे—संस्कृत-हिन्दी कोश, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, 1997
2. अथर्ववेद संहिता भाग-2 (सम्पादक - श्री राम शर्मा), मथुरा, युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, 2010
3. मोनियर-मोनियर विलियम्स, (संशोधित, सम्पादित - पंडित ईश्वर चन्द्र), *ए संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी*, दिल्ली, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली।
4. ऑक्सफोर्ड एडवान्स्ड लर्नर्स डिक्शनरी, आक्सफोर्ड, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2005
5. विशुद्ध मनुस्मृति, दिल्ली, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, 1986।

दर्शनाचार्य दयाकृष्ण

प्रो. रमेशचन्द्र शाह*

मैं अपने को इस मानी में बहुत सौभाग्यशाली समझता हूँ कि मुझे न केवल अपने चुने हुए क्षेत्र—साहित्य-क्षेत्र—के महारथियों का भरपूर स्नेह-सान्निध्य सुलभ हुआ, बल्कि उससे बाहर समझे जाने वाले क्षेत्र दर्शनशास्त्र के भी एक-से-एक प्रतिभाशाली प्रतिनिधियों का भी। वह भी यँ ही अनायास और संयोगवश ही। मसलन हिन्दी में ही लिखने वाले और वस्तुतः हिन्दी में मौलिक दार्शनिक चिन्तन की भाषा का निर्माण करने वाले यशदेव शल्य। कैसे मैं उनके सम्पर्क में आया? निर्मल वर्मा के कारण। हुआ यह, कि शल्य जी हिन्दी की एकमात्र दार्शनिक पत्रिका ‘उन्मीलन’ के संस्थापक और सम्पादक हुआ करते थे। अभी भी उससे जुड़े हुए हैं। तो हुआ यह, कि निर्मल जी के दोस्त दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर और महात्मा गाँधी के पौत्र स्व. रामचन्द्र गाँधी की अद्वैत वेदान्त पर बहुत ही रोचक पुस्तक ‘आई एम दाउ’ उन्हीं दिनों छपी थी। शल्य जी का उसूल था कि वे अंग्रेजी में लिखी पुस्तक की समीक्षा अपनी पत्रिका में नहीं छापते थे। निर्मल जी ने उनसे आग्रह किया, तो शल्य जी ने कहा—पूना से जो अंग्रेजी में दार्शनिक पत्रिका ‘फिलासफिकल क्वार्टरली’ नाम की निकलती है, उसमें आप किसी से रामचन्द्र गाँधी की पुस्तक की रिव्यू करा दीजिये। ऐसे व्यक्ति से, जो फिर उसका अनुवाद हिन्दी में हमारे लिए कर दे। तो निर्मल जी ने उन्हें मेरा नाम सुझाया। शल्य जी ने वह पुस्तक मुझे भेज दी। मुझे उसे पढ़ने में मज़ा आया और मैंने रिव्यू लिख दी जो ‘क्वार्टरली’ में छपी। पर, जहाँ तक, मुझे स्मरण है, उसके हिन्दी अनुवाद की नौबत ही नहीं आयी। संयोगवश, उन्हीं दिनों मुझे जयपुर दूरदर्शन से पाँच-छह अन्य कवियों के साथ काव्यपाठ का निमन्त्रण मिला, तो उस निमित्त से पहली बार शल्य जी से भेंट हुई। उस पहली ही भेंट ने मुझे इस कदर उनका मुरीद बना दिया कि फिर उनके साथ अनवरत आत्म-विनिमय का सिलसिला शुरू हो गया, जो कि अभी

* एम-4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003

तक जारी है। मुझे पक्का यकीन है, चिट्ठियों का सबसे बड़ा जखीरा मेरे पास शल्य जी की ही चिट्ठियों का होगा।

शल्य जी के कारण ही दयाकृष्ण जी से भी परिचय हुआ और वह परिचय भी उत्तरोत्तर गाढ़ा होते-होते सुदीर्घ मैत्री में परिणत हो गया। दया जी को साहित्य में, विशेषकर उपन्यास में बड़ा रस था। अगर मैं भूल नहीं करता तो उनसे पहली ही बातचीत ‘गोबरगणेश’ को लेकर हुई थी—जो उन्होंने तभी पढ़ा था।

तीसरी दार्शनिक प्रतिभा—जिनसे मेरा मेल-जोल उनके जीवन के अन्तिम दशक में ही सम्भव हुआ—स्व. श्री जड़ावलाल मेहता थे—उनसे मुझे मिलाने वाले सेतु अज्ञेय जी थे। एक अत्यन्त प्रासंगिक और मूल्यवान् तथ्य यह भी, कि अज्ञेय ने ही सर्वप्रथम मेहता साहब की दार्शनिक प्रतिभा को पहचाना-परखा था। मेरठ में होमवती देवी की पहल से प्रवर्तित साहित्यिक संस्था के आयोजनों में पहली बार उनका व्याख्यान करवाया था। हिन्दी में मनोविश्लेषण शास्त्र पर दिया गया वह पहला व्याख्यान था—ऐतिहासिक महत्त्व का। मेहता जी उन दिनों भारत में मनोविश्लेषण शास्त्र के अध्ययन की नींव रखने वाले और फ्रायड के शिष्य गिरीश्वर घोष के निकट सान्निध्य में कोलकाता में ही रहते थे। कालान्तर में वे इस अनुशासन की सीमाओं को पहचानकर, उसे लाँघकर विशुद्ध दर्शन की ओर लौटे और उसमें भी सबसे अधुनातन गहनतम खोजी दार्शनिक मेधा वाले हाइडेगर का साक्षात् शिष्यत्व ग्रहण करने को प्रेरित हुए। कोई चालीस वर्षों के अन्तराल के बाद, दोबारा उन्हें ढूँढ़-खोजकर उनसे दोबारा हिन्दी में लिखवाने का श्रेय भी अज्ञेय को ही जाता है। अज्ञेय ने ही उन्हें—‘हीरानन्द शास्त्री स्मारक व्याख्यानमाला’ के अन्तर्गत चार व्याख्यान देने को प्रेरित किया। ‘कवि कर्म और चिन्तन’ नाम की इस विषय पर अभूतपूर्व और अनमोल पुस्तक उन्हीं व्याख्यानों का प्रकाशित रूप है। मुझे वे चारों व्याख्यान सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था दिल्ली में—तीसरे व्याख्यान की अध्यक्षता भी अज्ञेय जी ने मुझी से करवायी थी। पर यह काफी बाद की घटना है। मेहता साहब से पहला परिचय तो कई वर्ष पूर्व हुआ था और उसके माध्यम भी अज्ञेय जी ही थे। उनके एक अद्भुत आयोजन ‘भागवत भूमि परिक्रमा’ नामक अभियान में विभिन्न अनुशासनों के आठ-दस प्रतिनिधि लोगों के साथ मैं और मेहता साहब भी शरीक हुए थे। उसी निमित्त से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध मेरा मेहता दम्पति से जुड़ा, जो उनके देहावसान तक अक्षुण्ण बना रहा।

तो... जाहिर है, इन तीनों दार्शनिक प्रतिभाओं का जो सत्संग-सान्निध्य मुझे मिला, वह साहित्य और साहित्यकारों के माध्यम से ही मिला। इसी से प्रकट होता है कि साहित्य की दुनिया और दार्शनिक चिन्तन की दुनिया एक-दूसरे से पूर्णतः असंगत और बेमेल कदापि नहीं है : दोनों के बीच एक गहरा पाताली सम्बन्ध अवश्य है।

दया जी, पांडे जी और मेहता साहब—तीनों ही उच्चकोटि की दार्शनिक मेधा के धनी थे। तथापि इनमें से प्रत्येक की सृजनात्मक साहित्य में रुचि ही नहीं, खासी गति भी है, इसका भरपूर प्रमाण मुझे इनके सान्निध्य से मिला। पर, क्या इसका उल्टा भी उतना ही सच है? कदाचित् नहीं, क्योंकि मुझे अपनी साहित्यिक विरादरी में आज तक एक भी ऐसा अपवाद नहीं मिला, जिसे दया जी, पांडे जी, मेहता साहब—यहाँ तक कि शल्य जी के भी दार्शनिक कृतित्व में दिलचस्पी हो।

आज तीनों ही प्रतिभाएँ नहीं रहीं। दया जी, मेहता जी और गोविन्द चन्द्र पांडे जी। चूँकि मुझे इन तीनों के सुदीर्घ सत्संग का लाभ मिला—चूँकि इन तीनों का कृतित्व अत्यन्त मूल्यवान् है—टिकाऊ भी, और चूँकि तीनों ने अपने-अपने क्षेत्र की विशेषज्ञता के अलावा साहित्य में भी खास पैठ प्रदर्शित की है, मुझे यह अपना कर्तव्य प्रतीत होता है कि अपने साथ उनके सम्बन्ध को भी याद करूँ—उसका भी साझा अपने पाठकों के साथ करूँ। ‘आवाहयामि’ उचारते ही यह त्रिकोण पहले चतुष्कोण में, फिर तुरन्त ‘पंचचूली’ में परिणत हो जाता है। शल्य जी के बिना तो यह त्रिकोण अस्तित्व में ही नहीं आता मेरे लिए। और जो पाँचवाँ नाम अभी-अभी मुझे सूझा—श्री मुकुन्द लाठ का, जो इन तीनों से जुड़ा होते हुए भी अपने-आप में एक स्वतन्त्र और स्वायत्त महत्त्व रखता है मेरे लिए, उसका उल्लेख तो रह ही गया। मुकुन्द लाठ, जिनके बहुआयामी कृतित्व से मैं समझता हूँ, हिन्दी की साहित्यिक दुनिया दया जी या मेहता जी की तुलना में शायद कुछ ज्यादा परिचित होगी—मेरी इस ‘पंचचूली’ के एक अनिवार्य अंग हैं। वे संगीत के मर्मज्ञ हैं—पंडित जसराज के सुयोग्य शिष्य, जिन्होंने संगीत के चिन्तन की न केवल अभूतपूर्व पहल की है हिन्दी में—बल्कि उसमें कुछ ऐसा महत्त्वपूर्ण भी जोड़ा है जो उनके अलावा और कोई नहीं जोड़ सकता था। ऐसी बहुवस्तुस्पर्शिनी विद्वता का धनी व्यक्ति किसी भी भाषा और साहित्य के लिए गर्व का विषय होगा। वे स्वयं मौलिक कवि हैं—सर्वथा अनूठे अपनी हिन्दी के परिवेश में; — और, उन्होंने संस्कृत से भी बड़े सुन्दर काव्यानुवाद किये हैं—उन्हें ‘स्वीकरण’ का अपरिचित, किन्तु सर्वथा उपयुक्त अभिधान प्रदान करते हुए। ‘हीरानन्द शास्त्री स्मारक व्याख्यानमाला’ के अन्तर्गत दिये गये उनके व्याख्यान अलग से संकलित हैं ही; इसके अलावा उन्हीं के द्वारा स्थापित ट्रस्ट—जिसने हिन्दी की एकमात्र दार्शनिक पत्रिका ‘उन्मीलन’ का भी निरन्तर प्रकाशन सम्भव किया—उस ट्रस्ट से भी उनके एवं शल्य जी के अत्यन्त मौलिक और अद्यतन चिन्तन को सामने लाने वाली कई पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है जो आसानी से सुलभ हैं, सहृदय समाज के लिए। नामदेव के काव्यानुवाद और बनारसीदास की आत्मकथा ‘अर्द्धकथानक’ की सर्वप्रथम प्रस्तुति उन्हीं ने की थी। उनसे मेरा प्रथम परिचय दयाकृष्ण जी ने ही कराया था—पर घनिष्ठ सम्पर्क शल्य जी के कारण सम्भव हुआ। सहृदय साहित्यालोचक भी वे अपने ढंग के अनोखे और अकेले ही हैं।

इस तरह दया जी का आवाहन अनिवार्य रूप से एक समूची मंडली का भी आवाहन है। पर वे स्वयं उसके सबसे जिन्दादिल और चुम्बकीय आकर्षण रखने वाले सदस्य ही थे; केन्द्र तो हर सदस्य था। चाहे वह शल्य जी हों, चाहे मुकुन्द जी हों।

दया जी के पत्र संक्षिप्त किन्तु उनकी बातचीत की तरह ही, उनकी बातचीत का ही स्वाद उत्पन्न करने वाले पत्र होते। किन्तु उनके ज्यादातर पत्र—कहना चाहिए सभी पत्र अंग्रेजी में लिखे गये हैं। हिन्दी में एकाध ही होंगे। अनुवाद में बात कुछ बनती नहीं लगती। मुझे लिखा गया उनका जो आखिरी पत्र है, वह भी उनके एक अत्यन्त प्रिय शोध-छात्र इजरायली विद्वान ‘राविये’ के कथनानुसार, किसी को भी लिखा गया दया जी का अन्तिम पत्र है। उसे इस संस्मरण में शामिल करना अनिवार्य लग रहा है—यथावत्। बिना हिन्दी में अनुवाद किये। और भी दो-एक पत्र नमूने के तौर पर। दया जी दार्शनिक होते हुए भी—कहना चाहिए—दार्शनिक होने के फलस्वरूप ही साहित्य के अन्तःसाक्ष्य को भी वाजिब महत्त्व देते थे—उसे भी अपने चिन्तन का विषय उसी तरह मानकर, जिस तरह विशुद्ध दार्शनिक प्रश्नों को। अद्भुत खुलापन था उनमें।

दया जी अनूठे ‘सेमिनारिस्ट’ थे। मैं तीन-चार ऐसे सेमिनारों में भागीदार रहा हूँ जिनमें दया जी की उपस्थिति मात्र समूचे वातावरण को विद्युन्मय कर देती थी। शल्य जी उन्हीं की खोज थे। वे ही मात्र उनका एक लेख-भर कहीं पढ़कर उन्हें पंजाब के एक सुदूर ग्रामीण अंचल के स्कूल से पकड़कर जयपुर ले आये थे। उनका इरादा उन्हें राजस्थान विश्वविद्यालय में बाकायदा प्राध्यापक के पद पर प्रतिष्ठित करवाने का था। यह अलग बात है कि चूँकि शल्य जी के पास किसी भी यूनिवर्सिटी की डिग्री नहीं थी, वे मात्र इंटर पास थे—इसलिए वह नियुक्ति सम्भव नहीं हो पायी। किन्तु राजस्थान ‘हिन्दी ग्रन्थ संस्थान’ के सहायक निदेशक तो वे हो ही गये थे। दया जी के कारण ही ‘जर्नल ऑव इंडियन कौंसिल ऑफ फिलासाफिक रिसर्च’ उत्कृष्टता की वह ऊँचाई हासिल कर पाया जो अन्यथा असम्भव थी। उन्होंने उसका अद्भुत क्षेत्र-विस्तार किया। दर्शन के बाहर के लोगों से भी अछूते विषयों पर लेख तथा समीक्षाएँ लिखवाकर। मुझ सरीखे बाहरी आदमी—विशुद्ध साहित्यिक प्राणी—से भी उन्होंने लेख लिखवाये। मेरी कथाकार पत्नी ज्योत्स्ना से, सिरेमिस्ट बेटी शम्पा से और फिल्मकार बेटी राजुला से भी उनका खास-पत्र संवाद रहा। राजुला से तो उन्होंने बाकायदा लेख भी लिखवाया अपने जर्नल के लिए। मैं यहाँ उनके कुछ पत्र उद्धृत करता हूँ। इस संस्मरण का और कोई समापन इससे बेहतर मुझे नहीं सूझ रहा। सर्वप्रथम, हिन्दी में लिखा दयाकृष्ण जी का वह एकमात्र पत्र, जिस पर 4.4.92 की तारीख पड़ी है :

अरे भई,

यह आदर-वादर क्या होता है? वैसे, मित्र होना अधिक मुश्किल होता है। खैर, चलो, इस बहाने तुम्हारी चिट्ठी तो मिली।

अपनी 'प्रतिक्रिया' रामस्वरूप को क्यों भेजी? हमें भेजिये, छाप देंगे। वैसे, सिद्धान्त यह है कि 'क्रिया' चाहे कैसी हो, 'ज्ञान' को उत्पन्न नहीं करती।

और, ज्योत्स्ना हमको प्रणाम क्यों भेजती है? उसे तो ढेर सारे उपालम्भ, ढेर सारी शिकायतें...।

खैर, एक बात समझ लो—चाहे तुम कितना ही अरविन्द के बारे में लिखो या रामकृष्ण मठों के चक्कर काटो, असली फिलॉसफर (नोट—'असली फिलॉसफर' से दया जी का आशय ज्योत्स्ना मिलन के उन्हीं दिनों छपे उपन्यास 'अ अस्तु का' से है।) तो वह है। हर सफे पर फिलॉसफी—दायें-बायें, जहाँ भी जाओ, फिलॉसफी ही फिलॉसफी।

तुम दोनों को बहुत-सा प्यार। झील हो और चाँद हो, और दूसरों के नॉवेलों की बात हो। हवा कुछ सर्द हो, आँख में खुमार हो, दिल में करार हो।

दया

4.4.92

अब, यह दूसरा पत्र दया जी का, जो 5 अप्रैल, 1990 का लिखा हुआ है। अंग्रेजी में। इसे मूल अंग्रेजी में ही देना ठीक होगा। मैं समझता हूँ कि साहित्य के लेखक की ही तरह साहित्य का पाठक भी व्यापक जिज्ञासा और बहुवस्तुस्पर्शी संवेदना वाला होता है। एक दार्शनिक का दिमाग कैसे काम करता है, इस बारे में उसे निश्चय ही कुतूहल होगा। तो, नमूने के तौर पर सिर्फ दो-तीन पत्र उनके यहाँ उद्धृत कर देना—संस्मरण के तौर पर भी मुझे असंगत नहीं लगता। वे पत्र अंग्रेजी में लिखे गये तो उन्हें उसी तरह देना उचित लग रहा है। यह रहा उनका 5 अप्रैल, 90 का एक पत्र :

Dear Professor Shah,

What a surprise to learn that you had been reading my book, 'The Art of the Conceptual'. Perhaps the literary artist and the philosopher are concerned with similar issues and problems that are to reflect on the lived experience. I like your lines from Yeats, but I do not see any conflict between life and work. Perhaps, that is the difference between the artist and the thinker. In any case I am happy to find that a writer with your sensibilities has enjoyed writings.

I wonder if you have seen professor J.L. Mehta's last lecture delivered at Harvard before a month of his death. I have started reading your novel and I am enjoying it. Thank you once again for writing a very a thoughtful response to my book.

With regards

Yours sincerely

Daya Krishna

दया जी दार्शनिक होने के साथ ही बड़े जिन्दादिल और दूसरों में—दूसरों की गतिविधियों में—खूब रस लेने वाले — व्यक्ति थे। इस पत्र में देखिये, उन्हें एक ओर फिल्म और दूसरी ओर 'सिरेमिक्स' में किस कदर दिलचस्पी है। इसी सिलसिले में उन्हें 'सृजन' और सर्जक को लेकर कितनी विचारोत्तेजक बातें सूझने लगती हैं... जैसी शायद एक दार्शनिक दिमाग को ही सूझ सकती है; शुद्ध साहित्यिकों को नहीं। पाठक गौर करेंगे।

My dear Shah,

What is this? You come to Jaipur and do not inform me before hand; and imagine, your daughter comes and we miss meeting her. It would have been fun to talk about films and film makers and dreaming about films one was to make. Film has a form so different from all the other arts, just a succession of images which stay for less than a second. Your other daughter, who works in ceramics, taught me something about how clay becomes 'porcelain'. Perhaps life is like that. But most of us are only half-baked, fit to be broken and thrown in a garbage heap.

Writers talk a lot about creativity. Yet the artist ego looms larger than the so-called work. One hears of kavi-karma and wonders about the labour and work that they do.

यहाँ दया जी लेखक के 'अहं' को अक्सर उसकी रचना पर हावी होते देखते हैं और इस दृष्टि से स्वयं रचनात्मकता या रचना-प्रक्रिया ही उनके लिए शंकास्पद हो जाती है। 'कवि-कर्म' क्या सचमुच कर्म कहला सकता है, इस बारे में उन्हें गहरा सन्देह उपज आता है। वे टाल्स्टॉय की इस विषय को लेकर लिखी एक कहानी का जिक्र करते हुए कहते हैं कि वह कहानी 'क्रियेटिविटी' के बारे में किसी सत्य को उद्घाटित करने की बजाय उसका विद्रूप या मखौल-सा बन गयी है। आगे वे कहते हैं — 'हम क्यों न एक बच्चे की तरह खेल में मगन हो जाएँ अथवा सिर्फ पेड़ों को या

आकाश को निहारें? क्या 'सर्जनात्मकता' सर्वत्र नहीं दिखाई देती? यह ठीक है कि 'बुरी रचना' जैसी चीज भी होती है और सच पूछो तो ज्यादातर रचनाएँ घटिया ही होती हैं। कैसे कोई जीवन मात्र की बुनियाद में जो तत्त्व अन्तर्निहित है नित्य-नूतन तत्त्व, उसकी बात कर सकता है?... दया जी इस तरह यहाँ 'क्रियेटिविटी' के दावे पर ही प्रश्नचिह्न लगाते प्रतीत होते हैं।

किन्तु... पत्र का समापन करते हुए दया जी फिर सहज, हल्के-फुल्के अंदाज में एक घरेलू प्रसंग पर आ जाते हैं :

a letter to Jyotsna is still unwritten but some day it shall be sent.

Your translation of my lecture has been so well-received that I have started wondering whether it is the skill of the translator or the thought of the thinker which has created 'the magic'.

With regards
Yours sincerely
Daya Krishna

दया जी के पत्र हमेशा दिलचस्प और विचारोत्तेजक हुआ करते थे। उनकी बातों से आप असहमत हों, इससे भी उनके आस्वाद में कोई फर्क नहीं पड़ता था। उनके इस पक्ष का गुण-ज्ञान तभी सम्भव है जब उनके द्वारा लिखे गये पत्रों का पूरा संकलन ही प्रकाशित हो। जहाँ तक मेरे उनके बीच के पत्र-संवाद का प्रश्न है, उसका इतना ही उदाहरण यहाँ सम्भव और संगत है। दरअसल, उनके एक इजरायली शिष्य ने उनके इस पक्ष को भी मूल्यवान् और प्रासंगिक मानते हुए उन पर शोध किया है और उसी ने उनके मुझे लिखे गये एक पत्र को छापने की अनुमति माँगते हुए मुझे सूचित किया था—कि “वह दया जी के द्वारा किसी को भी लिखा गया अन्तिम पत्र है।”... मैं उसी पत्र से समापन करना चाहता था, पर वह मुझे अपने कागजों में मिल नहीं रहा है इसलिए यहीं बस करता हूँ।

अलमलमतिविस्तरेण...

पुनश्च : वह पत्र अभी मिल गया है। इसे मुझे भेजते हुए दानियेल रावेह ने इसे अपनी पुस्तक में छापने की अनुमति चाही है। इसलिए, कि... “इनमें 'वैयक्तिक' और 'दार्शनिक' का रोचक संगुम्फन है जो दया जी की अपनी खासियत थी। सर्वथा अतुलनीय।”

Dear R.C. Shah,

'Ancestral voices' reached me a few days ago just as I was trying to close my ears to them in order to hear the voices from the future beckoning us and challenging us to think and act in a new way... still it is good to be reminded and I look forward to read what you have written.

...

My dear Shah,

I hope your worry about my illness is over, though 'illness' seems to be a natural condition of life at all its stages and ages. The stranger problem is that there are not only 'diseases' of life or 'body' but also of 'mind' and 'reason' and 'intellect' and even of the 'spirit'. Mental illnesses are well known but not so the diseases which reason itself is prone to. As for the spiritual illnesses one hardly hears about them. But what about 'imagination'? Does it play an important role in diseases at all the levels? And if so, what is the cure for those diseases which are rooted in imagination and at another level in consciousness itself.

If consciousness is a disease that has affected life, then could not life be considered a disease that has affected matter?

Matter itself does not seem to have any diseases, though there is such a thing as rusting or 'radioactive decay' which in any case has not been seen as such. At one time, the story of the 'Black Hole' seemed to suggest something similar to 'disease' at the heart of matter. But as Stephen Hawking has gone back on his earlier theory, we can hardly see them as such.

You are a writer; why not write on this? Is literature a disease of language just as according to Wittgenstein, philosophy is a disease which language suffers from when it takes a holiday from its daily use.

Imagine, writing to you like this; but it is the 'person' to whom the letter is written that provokes a thought-current appropriate to him or her.

With regards
Yours sincerely
Daya Krishna

अद्भुत पत्र है यह—आखिरी संवाद दया जी से—जिसमें ‘जीवन’ और ‘शरीर’ के रोगों के उल्लेख से आगे वे अचानक ‘मन’, ‘बुद्धि’—यहाँ तक कि ‘आत्मा’ तक के रोगों की बात करने लगते हैं : और, इतना ही नहीं, जो प्रश्न आज तक शायद ही किसी के भीतर उपजा होगा—वह प्रश्न भी उपजा देते हैं : ‘कल्पना-शक्ति भी अगर रोग-मुक्त नहीं है तो फिर उन रोगों का क्या इलाज हो सकता है जिनकी जड़ें ‘कल्पना’ में या, दूसरे स्तर पर, स्वयं ‘चेतना’ में गड़ी होती होंगी। ‘भौतिक पदार्थ ही शायद रोगमुक्त होता होगा’—वे आगे सुझाते हैं। अन्त में वे अपने पत्र-संवादी को चुनौती-सी देते हुए यूँ पत्र समाप्त करते हैं कि ...‘तुम तो लेखक हो, क्यों नहीं इन बातों पर लिखते? क्यों नहीं सवाल उठाते कि कहीं ऐसा तो नहीं, कि साहित्य भी एक रोग ही हो, जो उसी तरह भाषा को लग जाता हो—जिस तरह विटर्गेस्टाइन के कथनानुसार फिलॉसफी हमारी सामान्य भाषा का स्वास्थ्य बिगाड़ देती है।’ पत्र की तान इस जुमले पर टूटती है कि ...‘अजीब लगता है न—इस तरह लिखना किसी को! मगर जिस व्यक्ति को हम सम्बोधित कर रहे होते हैं, क्या वही, वह भी—ऐसी विचार-तरंगों के उपजने का निमित्त कारण नहीं है?’

राजनैतिक विमर्श में भारतीय दृष्टि के सन्निवेश का प्रश्न

प्रो. रामेश्वर मिश्र पंकज*

भारत के राज्य पोषित बौद्धिक शैक्षणिक परिवेश में सोवियत एवं चीनी कम्युनिस्ट जुमलेबाजियों की ऐसी विमूढ़, बुद्धिहीन, दयनीय नकल फैली है कि भारत बनाम इंडिया, गरीब बनाम अमीर, अगड़े बनाम पिछड़े, शोषक बनाम शोषित जैसे खोखले नारे तथा साम्प्रदायिक हिन्दू बनाम सेक्युलर मॉडर्न जैसे पापपूर्ण प्रचार हवा में तैरते ही रहते हैं। जबकि वैश्विक संदर्भ से तुलना करें तो भारत आज भी, पापिष्ठ ‘पोलिटीशियन्स’ (इसकी हिन्दी गैरजरूरी है) के 68 वर्षों के नरक प्रसार के बाद भी, विश्व का सर्वाधिक संगठित, समरस, उदार, न्यायशील और कोमल हृदय समाज है। दलितवादी बसपा से सर्ववादी भाजपा तक और पूँजीवादी कांग्रेस से सर्वहारावादी कम्युनिस्ट गिरोहों तक आये दिन सामाजिक टकराव के लिए की जा रही तिकड़मों के बीच भारतीय समाज आज भी ऐसी गहराई से एक है कि उसकी तुलना में यूरोप संयुक्त राज्य अमेरिका और सभी मुस्लिम देश भीतर से विखण्डित, विग्रहरत और परस्पर विरोधरत ही दिखते हैं।

एकता की इस व्यापक पृष्ठभूमि का स्मरण रखते हुए उन वास्तविक विखण्डनकारी तत्त्वों को भी ध्यान में लाना आवश्यक है, जो विगत 100 वर्षों में क्रमशः प्रबल होते गए हैं। इनमें सर्वप्रमुख है—दो नितान्त भिन्न बोध परम्पराओं की हिन्दू समाज में प्रबलता। जिनमें से एक है भारत की अपनी बोध परंपरा का प्रवाह जिसे बलपूर्वक दबाया, सिकोड़ा गया और संसाधन रहित बनाने का प्रयास राज्यकर्ताओं का एक छोटा सक्रिय समूह कर रहा है। दूसरा है, बौद्धिक लम्पटों के छिछोरे समूह द्वारा सत्ताधीशों के एक वर्ग की छाया में बलपूर्वक आरोपित शिक्षा तंत्र एवं संचार तंत्र, जो सम्पूर्ण समाज में एक बोध रहित मुहावरेबाजी और अभिचारित व्यवहार को बलपूर्वक प्रचारित कर रहा है। संख्या और शक्ति में यह दूसरा तत्त्व अल्प है, निर्बल है,

*बी-12, आकृति गार्डन, भोपाल-03, मो. 094256 02596

अंदर से खोखला है। परंतु प्रथम तत्त्व में छाए प्रमाद एवं उदारता की भ्रान्ति के कारण यह लगातार बलवत्तर होता गया और अधिकतम संभव स्तर तक पहुँचकर अब उतार की ओर है।

जो दूसरा तत्त्व है, वह अंग्रेजों के जाते समय संधिपूर्वक सत्ता के 'ट्रांसफर' से सत्तारूढ़ हुआ और इसमें भारतीय इतिहास में पहली बार विधि का स्रोत राज्य को बना दिया। अंग्रेजों ने अपने हिस्से के भारत में यह कोशिश की तो थी, परंतु स्वयं इंग्लैंड में विधि का स्रोत 'राज्य' नहीं अपितु 'चर्च' रहा है। इंग्लैंड का क्राउन, चर्च का सर्वोच्च संरक्षक बनकर ही इंग्लिश विधि की पुष्टि का अधिकारी बन सका है, इसलिए अंग्रेज सदा भारत में यह दिखाते रहे कि जो कानून वे अपने राज्य द्वारा लागू कर रहे हैं, वह हिन्दुओं के धर्म शास्त्रों के द्वारा भी समर्थित हैं। इसके लिये उन्होंने चरणबद्ध एवं नियोजित प्रयास किये तथा अपने द्वारा संरक्षित विद्वानों का एक बड़ा ठाठ रचा; इसी प्रकार मुस्लिम प्रजा के शादी-ब्याह और वारिसाना हक के मामलों को वे शरीयत और हदीस की परम्परा से पोषित या अनुमोदित बताने का प्रयास करते रहे। अन्य पंथों के लिए भी उन्होंने ऐसा ही 'स्पेस' बनाया।

परम्परागत भारतीयों में अंतर्निहित एकता एवं अखण्डता तथा शक्तिशाली राष्ट्र की अदम्य आकांक्षा का क्षलपूर्ण उपयोग कर नेहरू समूह ने समस्त भारत में एक न्याय व्यवस्था स्थापित करने का तर्क देकर भारतीय इतिहास में पहली बार राज्य को ही विधि का स्रोत बना दिया।

भारतीय बोध परंपरा के वाहकों में से जो अग्रणी विद्वान थे उनकी इस विषय में उदासीनता या उदारता इसमें सहायक बनी। इसी प्रक्रिया में श्रेयस्कर समाज व्यवस्था का वचन देते हुए नेहरू समूह ने राष्ट्र के सभी संसाधनों को राज्य के अधीन बनाने की भी विधिक व्यवस्था कर ली और शिक्षा तथा संचार माध्यमों पर भी राज्य का ही पूर्ण नियंत्रण विधिक स्तर पर स्थापित कर लिया। इसकी भयावहता की ओर हिन्दू समाज का ध्यान न जाये, इसके लिये मुस्लिम और ईसाई समाजों की शिक्षा व्यवस्था को पूर्ण स्वतंत्रता देकर अल्प संख्यक पंथों की मजहबी और रेलीजस शिक्षा के लिये ऐसे सरकारी खजाने से भारी अनुदान देने की व्यवस्था कर दी, जो सरकारी खजाना मुख्यतः बहुसंख्यक हिन्दू करदाताओं के अंशदान से वित्त पोषित हैं।

जगह-जगह मुस्लिम उग्रवाद एवं अलगाववाद तथा ईसाई मिशनरी धर्मांतरनवादी विस्तारवाद को बढ़ावा देकर हिन्दू समाज को इतना विकल विह्वल बना दिया कि वह अपने संसाधनों पर यूरो भारतीय बुद्धि वाले समूहों का एकधिकार स्थापित होने की प्रक्रिया की भयावहता देख ही नहीं पाया, केवल मुस्लिम अलगाववाद और ईसाई धर्मांतरणवादी विस्तारवाद पर वह चिंतित रहता आया। इसमें राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ, हिन्दू महासभा आदि संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका यह रही कि वे यूरो भारतीय बुद्धि वाले समूहों के, जन्म से और नाम से हिन्दू होने पर इतने पुलकित रहे कि उन्होंने

उनके सभी पापों को हिन्दू समाज के ही दोष माना। इन संगठनों के नेताओं को प्रायः यह भाषण देते देखा जाता है—'हमने तिब्बत को चीन को सौंप दिया।' 'हमने कश्मीर का एक भाग पाकिस्तान को दे दिया।' 'हमने भारतीय भाषाओं की उपेक्षा की।' 'हमने जातिवादी को बढ़ावा दिया।' 'हमने भारतीयता की उपेक्षा की।' 'हमने अंग्रेजी को फैलाया बढ़ाया', इत्यादि। यह सुनकर हमारे जैसे धर्मनिष्ठ भारतीय दाँत पीसने, दाँत कटकटाने और माथा पीटने के सिवाय कर भी क्या सकते हैं, क्योंकि हम तो इन संगठनों को अपना मानते हैं और ये अधर्मियों तथा धर्मविरोधियों को अपना मानते हैं।

अगर इन लोगों का तर्क भगवान श्रीराम के समय चलता तो इनके अनुसार श्रीरामजी कहते—'हमने ऋषियों मुनियों की हत्या की', 'हमने उनकी हड्डियों का ढेर लगाया', 'हमने यज्ञों का विध्वंस किया' आदि। इसी प्रकार इनके तर्कों से शायद भगवान श्रीकृष्ण को कहना होता—'हमने बच्चों की हत्याएँ कीं', 'हमने ब्रज में बड़ा अनाचार फैलाया', आदि। अब यह कल्पना करके ही सिर धुनने और दाँत पीसने के सिवाय क्या किया जा सकता है, क्योंकि इन हिन्दू संगठनों के वर्तमान में तर्क ऐसे ही विचित्र हैं।

संपूर्ण समाज में अंतर्निहित एकत्व देखने का अर्थ पाप और पुण्य, अधर्म और धर्म, तमस और सत्त्व में एकता देखना नहीं है। भारत में पापी, धर्मद्रोही, हिन्दूद्रोही, जो कुछ करे, वह सब धर्मनिष्ठ, सदाचारी, पुण्यात्मा हिन्दुओं का भी सम्मिलित कार्य माना जाए, एकता की ऐसी विचित्र दृष्टि हम पहली बार देख रहे हैं। इस दृष्टि के कारण धर्मशून्य भारतीय राज्यकर्ताओं के पापों को भारतीयों के दोष माना बताया जाने लगा है।

अंग्रेजों तथा अन्य ईसाई यूरोपीय समाजों का मध्ययुग भयावह था, पापपूर्ण था, इसलिए एक ओर तो उन्होंने उसे अंधकार युग कहकर ढँकने की कोशिश की, दूसरी ओर अपने समाज के सर्वोत्तम पक्षों को सामने रखकर उसे ही अपना मूल स्वभाव प्रचारित किया तथा अनय समाजों के दोषों को ही उन समाजों का मूल स्वभाव प्रचारित किया। इसके प्रभाव में आकर यूरो भारतीय-बुद्धि वाले हिन्दू नेता अंग्रेजों एवं यूरोपीयों के सच्चे शिष्य बनने की ललक रखते हैं और इस प्रक्रिया में उनकी नकल में भारत के दोष गिनाते रहते हैं।

सर्वप्रथम तो ऐसे अपने वर्तमान बौद्धिक परिवेश का स्मरण आवश्यक है। क्या 1947 ईस्वी से आज तक भारत में वस्तुतः कोई राजनैतिक विमर्श हुआ है? या केवल नारेबाजियाँ और प्रोपेगण्डा चला है? इसके लिए बहुत संक्षेप में एक सरसरी नजर विगत 70 वर्षों के तथाकथित राजनैतिक विमर्श पर डाल लेना आवश्यक है।

जब से ब्रिटिश भारतीय क्षेत्र से और उसके प्रभाव से भारतीय राजाओं के भी क्षेत्र से अनेक प्रतिभाशाली युवक लंदन, पेरिस, बर्लिन आदि जगह पढ़ने और जानकारी प्राप्त करने जाने लगे, तब से यूरोप की ही तर्ज पर भारत में अनेक

राजनैतिक मुहावरे चल पड़े। सबसे पहले तो देशभक्ति के प्रचण्ड भाव से प्रेरित क्रान्तिकारी आन्दोलन चला। उन क्रान्तिकारियों का लक्ष्य स्पष्ट था—बाहरी, अजनबी आततायी फिरंगियों को भारत से मार भगाना। इसके लिए 1858 ईस्वी के 'इण्डियन आर्म्स एक्ट' के लागू होने और उसकी नकल में भारतीय राजाओं द्वारा भी भारतीय नागरिकों को शस्त्र रखने पर अनेक पाबन्दियाँ लगा देने के कारण क्रान्ति का यह मूल काम बहुत कुछ छिपकर करना पड़ा, जिससे राजनैतिक विमर्श भी सार्वजनिक रूप से सम्भव नहीं हुआ, गुप्त रूप से ही चलता रहा। परन्तु इसके बहुत पहले ही बंकिमचन्द्र चटर्जी ने अपने लेखन और विशेषतः अपने उपन्यास 'आनन्दमठ' के विश्वविख्यात गीत 'वन्दे मातरम्' के द्वारा जगज्जननी भारत माता का एक दिव्य स्वरूप देश में लोकप्रिय बनाया था। इससे पूर्व वैदिक साहित्य में और भारतीय परम्परा में पृथ्वी माता की पूजा होती रही है। जब यूरोप में राष्ट्रवाद की बहुत धुँधली-सी चर्चा चली, तब मानो उसके प्रत्युत्तर में बंकिम और स्वामी विवेकानन्द ने तथा बाद में श्रीअरविन्द ने भारत माता की दिव्य अवधारणा दी। परन्तु यूरोप के राष्ट्रवाद से भारत माता की पूजा की भावना में आधारभूत अन्तर था। मुख्य अन्तर तो यही था कि स्वामी विवेकानन्द और बाद में श्रीअरविन्द जैसे योगी ने उनका प्रत्यक्ष दर्शन किया था कि स्पष्टतः वे परम चैतन्य सत्ता की ही एक मूर्ति विशेष, दैवी अभिव्यक्ति विशेष हैं। अतः वे सर्वशक्तिमान हैं, साक्षात् जगदम्बा हैं और परम चैतन्य तथा परम सामर्थ्य से सम्पन्न हैं। ऐसी कोई भी कल्पना यूरोप में स्वयं गॉड की ही नहीं थी, तो फिर 'फादरलैण्ड' की ऐसी छवि की कल्पना वहाँ असम्भव ही थी।

1905 ईस्वी में जब कर्जन ने हिन्दुओं से मुस्लिम अलगाववाद का युद्ध भड़काने के लिए बंगाल को बाँटा, तो उसके विरोध में जो प्रचण्ड असहयोग आन्दोलन चला और स्वदेशी की जैसी प्रखर अभिव्यक्ति हुई, उसके पीछे भारत माता की इस बोध-परम्परा के उन्मेष की केन्द्रीय भूमिका थी। समस्त क्रान्तिकारी आन्दोलन एवं अनुशीलन समितियाँ भारत माता की इसी दिव्य सत्ता की आराधक थीं।

परन्तु जब से प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण यूरोप की सभी शक्तियाँ जर्जर हो गयीं और इंग्लैण्ड को अपने बल पर जीत पाना असम्भव दिखा तथा महान भारतीय सैनिकों की अद्भुत वीरता के कारण किसी प्रकार वह जर्मनी से जीत पाया, तब से स्वयं इंग्लैण्ड में तथा समस्त यूरोप एवं संयुक्त राज्य अमेरिका में यह दबाव बढ़ने लगा कि इंग्लैण्ड को भारत से चतुराई के साथ हटना चाहिए, इसी में इंग्लैण्ड का हित है। ऐसी स्थिति में राजनीति की ठण्डी धारा में बहुत सारे ठण्डे और हिसाबी-किताबी तथा चतुर लोग तेजी से घुसने लगे और उन्होंने कांग्रेस को अपने कब्जे में करने की युक्तियाँ शुरू कीं। राष्ट्रीय परिवेश में भारत माता की साधना और आराधना की गूँज थी, इसलिए उन्होंने भी कभी कभी 'भारत माता' शब्द का सहारा तो लिया परन्तु उनके भीतर न तो कोई आध्यात्मिक चेतना थी और न ही उन्होंने भारत माता

की किसी दिव्यता में एक भी दिन श्रद्धा रखी। यहाँ यह स्मरण दिलाना उचित है कि 50 वर्ष की आयु तक ठण्डी धारा के सबसे बड़े प्रतिनिधि स्वयं गाँधी जी ने भी एक भी दिन 'भारत माता' पद का प्रयोग नहीं किया था, इसके स्थान पर वे स्वयं को ब्रिटिश साम्राज्य का सबसे निष्ठावान सेवक ही कहते रहे थे। बाद में वे बदले।

ठण्डी धारा के नेताओं ने भारत माता की दिव्य सत्ता को राज्य सत्ता की एक नारी प्रतीक में बदलने की पतित कोशिशें प्रारम्भ कीं। नेताजी के दबाव से जब अंग्रेजों ने जल्दी से जल्दी सत्ता का ट्रांसफर अपने प्रिय समूह को कर वापस जाने की तैयारी शुरू की, तब से भारत माता को राज्य सत्ता की नारी प्रतीक में ढालने का काम और तेज हो गया। स्थिति यह हो गयी कि राज्य के पापपूर्ण पुनर्गठन (Sinful reorganization of State) को भारत माता जैसी दिव्य सत्ता का अंग भंग बताया जाने लगा। अर्थात् भारत माता के बेटे तो सत्ता में मौज कर रहे हैं और माँ का अंग-भंग हो रहा है। यह धिनौनी कल्पना आध्यात्मिक चेतना से सर्वथा रहित व्यक्ति और समूह ही कर सकते हैं, जो यह दुस्साहसपूर्ण बात सोच और कह सकते हैं कि वे तो अक्षत हैं परन्तु दिव्य सत्ता, परम चैतन्यमयी जगज्जननी जिसके संकेत मात्र से सृष्टि और प्रलय होता है, उनका अंग-भंग करने की सामर्थ्य इन क्षुद्र कीटों में है। यह तो घोर नास्तिकता की निर्लज्ज अभिव्यक्ति है।

आगे चलकर कायर, क्लीव, पुरुषार्थविहीन कथित रूप से हिन्दू राजपुरुषों द्वारा कश्मीर को अलगाववादी इस्लाम को समर्पित कर दिया गया तो ये भौतिकतावादी राष्ट्रवादी भारत माता के कटे मस्तक की बात करने लगे। स्पष्ट है कि इन्हें कल्पना भी नहीं थी, न है कि इनके ये कथन कैसे निन्दनीय रूप से नास्तिक हैं। चेतन सत्ता का भला कभी मस्तक कटता है? अथवा कोई काट सकता है? जिनका माथा विकृत है, वे ही ऐसी अटपटी कल्पनाएँ कर सकते हैं।

सोवियत संघ की नकल में शिक्षा और संचार माध्यमों में राज्य का एकाधिकार स्थापित कर धीरे-धीरे लोकमानस में भी ऐसी विकृत छवियाँ प्रसारित की जाने लगीं। स्थिति यह हो गयी कि भारत के महान सपूतों की अद्वितीय वीरता रूपी क्रान्तिकारिता का महत्त्व घटाने के लिए हर मामूली या रद्दी चीज को क्रान्ति बताया जाने लगा। सबसे पहले तो गाँधी जी की सविनय अवज्ञा को अहिंसक क्रान्ति बताया गया, यही नहीं 1920 ईस्वी में जब भारत में पानी की विपुलता और प्रचुरता थी, तब पेशाब से पैखाना साफ करने को भी एक बड़ी क्रान्ति बताया गया। यह बात अलग है कि आज जब पानी का वास्तविक संकट है, तब शौचालयों में पानी का कैसा भयंकर अपव्यय उसी धारा के नेतृत्व में हो रहा है? इसी प्रकार जब देश में चारों ओर आयुर्वेद का ज्ञान घर की साधारण गृहिणियों तक को था, तब विदेशी ढंग की भोजन शैली और भोजन के जरिये तथाकथित चिकित्सा की शैली को आहार क्रान्ति एवं प्राकृतिक चिकित्सा बताया गया। यह बात अलग है कि गाँधी जी सहित उस आहार क्रान्ति और प्राकृतिक

जीवन शैली के अधिकांश प्रयोक्ता पेचिश सहित पेट की अनेक बीमारियों से तड़पते रहते थे।

फिर 1934 ईस्वी से नेहरू जी की प्रेरणा से कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की सोशलिस्ट क्रान्ति हुई। ठण्डी चालें चलते हुए 40 वर्ष बाद भारत के संविधान में भी सोशलिस्ट शब्द का प्रवेश कर इसे एक सोशलिस्ट राष्ट्र घोषित कर दिया गया। संविधान में यह राजनैतिक सोशलिस्ट क्रान्ति होते ही अमेरिकी बाजारों के समक्ष समर्पण को उदारीकरण और वैश्वीकरण ही बताया जाने लगा। क्रान्तियों की बहार ही आ गयी। श्वेत क्रान्ति के द्वारा भारतीय गौवंश को गायब कर देने की प्रक्रिया तो चली ही थी, हरित क्रान्ति के द्वारा भारत की उपजाऊ भूमि का बड़ा हिस्सा बंजर बना डालने की प्रक्रिया भी चली थी। क्रान्ति की प्रक्रिया को डॉ. लोहिया ने सप्तक्रान्ति से परिभाषित किया था, पर उसकी परिणति यादववाद और कुर्मीवाद आदि विविध जातिवादों में फलती-फूलती देखी जा सकती है। डॉ. लोहिया को सोशलिस्ट पार्टी से बाहर निकालकर श्री नरेन्द्र देव और श्री जयप्रकाश नारायण ने सोशलिस्ट क्रान्ति में एक नया परिवर्तन उपस्थित किया और फिर उसके थोड़े ही समय के भीतर जे पी ने क्वाण्टम भौतिकी के ज्ञान से प्रेरित होकर समाजवाद को अलबिदा कहा। 20 वर्षों के भीतर उन्होंने पुनः सम्पूर्ण क्रान्ति की घोषणा की, जिसके सहभागियों ने कुछ ही समय बाद पुनः अपनी समाजवादी पहचान पर विशेष अभिमान प्रदर्शित करना शुरू कर दिया। इस सबसे ऐसा परिदृश्य उभरता है जिसे भारतीय पदावली में केवल यही कहा जा सकता है कि मानो बन्दरों की भीड़ राजदण्ड लेकर इधर-उधर दौड़ रही है। क्या राजनैतिक विमर्श में भारतीय दृष्टि का सन्निवेश ऐसे परिवेश में अभी किया जा सकता है?

यूरोप से ही प्रेरित होकर यूरोप की एक सड़ी हुई प्याज के अलग-अलग छिलके लेकर बहुत से राजनैतिक समूह भारत में तेजी से इधर-उधर दौड़ते दिखते हैं। क्या इस दौड़ को ही राजनैतिक विमर्श कहा जायेगा?

ईसाई यूरोप से प्रेरणा लेकर तथाकथित सांस्कृतिक क्षेत्र में भी बहुत से रोचक प्रयास हुए हैं। कुछ हिन्दुओं को अचानक लगा कि ब्रह्मा जी का बनाया हुआ मनुष्य कुछ ठीक नहीं बना है, तो उन्होंने मनुष्य निर्माण और व्यक्ति निर्माण का नारा दिया। इस नारे के वाहक अनेक सांस्कृतिक संगठन भारत में उत्साह से कार्यरत हैं और ब्रह्मा जी की गलती को दुरुस्त कर रहे हैं तथा बेचारे बड़े मनोयोग से जेनेटिक इंजीनियरिंग की तैयारी कर रहे हैं। इसी के भीतर महाकाल की सत्ता को ठेंगा दिखाने का दुस्साहस करते हुए और काल प्रवाह की भारतीय ज्ञान परम्परा को नगण्य मानते हुए युग निर्माण की भी घोषणाएँ की गयी हैं। इसी के साथ सनातन राष्ट्र भारत को कुछ गड़बड़-सड़बड़ मानकर राष्ट्र निर्माण की भी दावेदारी करने वाले अनेक रोचक संगठन चारों ओर देखे जाते हैं। स्वयं गुरु गोलवलकर ने इस परिदृश्य की उपमा इस उक्ति के साथ प्रस्तुत की थी कि एक सशक्त बैलों के द्वारा जोती जा रही बैलगाड़ी शान्त

गम्भीर मंथर गति से चली जा रही है और उसके नीचे चल रहा एक खजुहा कुत्ता यह मान रहा है कि यह बैलगाड़ी वस्तुतः वही चला रहा है। ऐसे परिवेश में राजनैतिक विमर्श में भारतीय दृष्टि का सन्निवेश करने की पहल करने वाले वीर अभी तो नजर नहीं आते।

दिव्य सत्ता को राज्य की नारी प्रतीक में बदल दिया

स्वामी विवेकानन्द और श्रीअरविन्द ने जिन जगज्जननी भारत माता के दिव्य दर्शन किये थे, उन्हें राज्यसत्ता की स्त्री प्रतीक में रूपान्तरित करने वाले लोग यों तो यूरोपीय किस्म के राष्ट्रवाद से प्रेरित प्रतीत होते हैं या स्वयं को प्रदर्शित करते हैं, परन्तु सत्य यह है कि भारत के राजनैतिक विमर्श में यूरोपीय राष्ट्रवाद का भी कोई संज्ञान तक नहीं है। भारत में तो पढ़े-लिखे बहुत से लोगों को यह भी ध्यान में नहीं है कि रेलगाड़ियों का प्रारम्भिक रूप स्वयं इंग्लैण्ड में 19वीं शताब्दी ईस्वी में ही परिकल्पित किया गया और 19वीं शताब्दी ईस्वी के उत्तरार्द्ध में ही वह व्यापक बन पाया। प्रारम्भ में लंदन से मास्को तक पहुँचने में रेलगाड़ी को 40 दिन लगते थे, जो समय 20वीं शताब्दी ईस्वी में जाकर 30 घण्टे हो गया और अब कुछ ही घण्टे हो गया है। शुरू में जब कारों के 12 मॉडल बने तो उनकी गति 4 मील प्रति घण्टा ही थी। मर्सिडीज और रॉल्स रॉयस कारें 20वीं शताब्दी ईस्वी में ही चलन में आ सकी हैं। यूरोप के साधारण लोगों को बिजली और पानी पर्याप्त मात्रा में 1950 और 1970 ईस्वी के बाद ही सुलभ हुआ है, यह तथ्य भी अधिकांश शिक्षित भारतीय नहीं जानते। इन सर्वविदित तथ्यों को भी न जानने वाले लोग यूरोप की तुलना में भारत को पिछड़ा, हेय मानते हुए किस प्रकार का राजनैतिक विमर्श करेंगे?

चलिये, मान लेते हैं कि इन भौतिक तथ्यों को जानना राजनैतिक विमर्श के लिए आवश्यक नहीं है। परन्तु यदि स्वयं तथाकथित राष्ट्रवाद को लें, जिसकी चर्चा इन दिनों भारत में व्यापक है, तो उसके विषय में भी जानकारी की आश्चर्यजनक कमी देखी जाती है।

राष्ट्र राज्य की सर्वसम्मत यूरोपीय परिभाषा

सभी जानते हैं कि राष्ट्रवाद के विषय में यह सर्वसम्मत यूरोपीय परिभाषा है कि—‘राष्ट्र राज्य वह इकाई है जहाँ नागरिकों का बहुमत अपनी एक सामान्य पहचान के प्रति सजग हो और एक ही संस्कृति में निष्ठा रखता हो।’ (देखें, नॉर्मन डेविस रचित—‘यूरोप : ए हिस्ट्री’, ऑक्सफोर्ड, 1996)

यूरोप में यह सब जानते हैं कि राष्ट्रवाद, शासक अभिजनों के द्वारा परिकल्पित और प्रेरित एक विचार है जो 20वीं शताब्दी ईस्वी में ही प्रभावी हुआ है। स्वयं नॉर्मन डेविस के शब्दों में—‘18वीं शताब्दी ईस्वी के प्रारम्भ तक ‘ब्रिटिश नेशन’ नाम की कोई

वस्तु नहीं थी। ब्रिटिश क्षेत्र के लोग तब तक अपने को इंग्लिश, वेल्श, स्कॉट या आयरिश के रूप में ही देखते थे, ब्रिटिश के रूप में नहीं। 19वीं शताब्दी ईस्वी के प्रारम्भ में यह राजकीय कानून बना कि यूनियन जैक का आदर करना, मानक अंग्रेजी बोलना, 'गॉड सेव अवर नोबुल किंग' नामक रॉयल गीत खड़े होकर ससम्मान गाना—यह सब प्रत्येक ब्रिटिश नागरिक के लिए अनिवार्य बना दिया गया। उसके पूर्व वेल्श क्षेत्र में यह कानून बना कि अगर वेल्श के लोग सार्वजनिक स्थलों पर वेल्श भाषा बोलेंगे तो उन्हें बेंतों से पीटा जाएगा। इस प्रकार ब्रिटिश राष्ट्रवाद 19वीं शताब्दी ईस्वी में बलपूर्वक पैदा किया गया। ब्रिटिश राष्ट्र राज्य के अन्य नेशन नये राज्य में अधीनस्थ सहभागी घोषित किये गये।

कुल 15 राष्ट्र राज्यों पर सहमति

यह भी सम्भवतः आप सब जानते ही होंगे कि 19वीं शताब्दी ईस्वी में राष्ट्रीयता की बहस यूरोप में पहली बार चली। इसके पहले यह शब्द अस्तित्व में नहीं था। तब तक अलग अलग चर्चों के अलग-अलग राज्य के रूप में ही राजनैतिक विमर्श होता था। 19वीं शताब्दी ईस्वी के मध्य में यूरोपीय लोगों के बीच में एक आम सहमति बनी कि यूरोप में कुछ राष्ट्र ऐतिहासिक हैं और कुछ अनैतिहासिक राष्ट्र हैं।

सम्भावित राष्ट्र राज्य क्या हो सकते हैं, इस पर यूरोप के ताकतवर लोगों के बीच सहमति यह बनी कि फ्रांस, ब्रिटेन, प्रशा, ऑस्ट्रिया और रूस अपनी एक ऐतिहासिक पहचान रखते हैं, इसलिए ये राष्ट्र राज्य बन सकेंगे, इसके साथ ही इन शक्तियों के द्वारा मान्यता प्राप्त स्पेन, पुर्तगाल, बेल्जियम, नीदरलैण्ड, स्वीडन, डेनमार्क और हेला या ऐल (ग्रीस) क्षेत्र भी राष्ट्र राज्य बन सकते हैं। इसी के साथ इटली, जर्मनी और पोल लोग एक राष्ट्र राज्य बन सकते हैं। इस प्रकार ये 15 राष्ट्र राज्य ही यूरोप में पनपने दिये जा सकते हैं। मैजिनी ने तो कुल 12 राष्ट्र राज्यों के ही यूरोप में उदय होने की सम्भावना मानी।

पिघलते रहे हैं राष्ट्र राज्य

रोचक बात यह है कि इनमें से प्रशा और ऑस्ट्रिया आदि राष्ट्र राज्य उस रूप में नहीं हैं। पोल क्षेत्र एक से अधिक राष्ट्रों में बँट चुका है। जर्मनी भी दो राष्ट्र बनकर फिर एक राष्ट्र बना है। इटली के भीतर वेटिकन नामक एक आठ सौ लोगों का अलग राष्ट्र राज्य बनाया गया है। ब्रिटेन कब एक से अधिक राष्ट्रों में बँट जाए, कोई नहीं जानता। स्लाव लोगों का एक ही राष्ट्र है, यह सभी स्लाव प्रबुद्धों ने बारम्बार कहा, परन्तु बाद में युगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया और रूस इन तीन राष्ट्रों में स्लाव बँटे और आज 5 राष्ट्रों में बँटे हुए हैं। उधर फिन लोगों का दावा है कि वस्तुतः रूस हमारा ही क्षेत्र है। जर्मनी का दावा है कि जहाँ जहाँ हूण हैं, वह सब जर्मन राष्ट्र है। एक दिन

उसे जर्मन राष्ट्र का अंग बनना होगा। यह बात अलग है कि इस तर्क से स्वयं जर्मनी को और हूणगिरि (हंगरी) सहित अनेक राष्ट्रों को भारत का अंग बनना होगा, क्योंकि हूण भरतवंशी क्षत्रिय हैं। जब जर्मनों ने स्वयं को शुद्ध आर्य कहा, तो ईरान ने भी अपने आर्य होने का दावा किया और उधर अंग्रेज बौद्धिकों ने यह तर्क दिया कि जर्मन लोग आर्यों की एक विशेष उपजाति ट्यूटन हैं और इस प्रकार वे इंग्लैण्ड के समजातीय हैं।

मानक भाषा और सर्वमान्य संस्कृति

यूरोप में राष्ट्र की अलग और विशिष्ट पहचान एक मानक भाषा और एक सर्वमान्य संस्कृति को माना गया। उसके लिए विद्वानों की टोलियों ने अथक परिश्रम किया।

यहाँ इन तथ्यों का उल्लेख केवल इसलिए किया जा रहा है कि स्वयं राष्ट्रवाद के बारे में भारत के किसी भी समूह ने राष्ट्र की अपनी अवधारणा को सार्वजनिक विमर्श में स्पष्ट नहीं किया है। यही नहीं, जिस यूरोप से उनका राष्ट्रवाद प्रेरित है, उसके आधारभूत एक भी तत्त्व या मानक को या तो वे जानते नहीं या मानते नहीं। दूसरी ओर स्वामी विवेकानन्द और श्रीअरविन्द ने जिस चैतन्य सत्ता भारत माता के प्रत्यक्ष दर्शन किये थे, उनको मानने वाला कोई भी समूह आज भारत की राजनीति में प्रभावी नहीं है। क्योंकि भारत माता रूपी महाशक्ति में श्रद्धा रखने वाला कोई भी व्यक्ति राष्ट्र निर्माण और मानव निर्माण जैसे अहंकार से बजबजाते शब्दों को जिहा पर नहीं ला सकता। अतः राजनैतिक विमर्श में भारतीय पदावली या भारतीय दृष्टि का सन्निवेश अभी तो परिदृश्य में एक दुर्लभ वस्तु ही प्रतीत होती है।

नास्तिक और दम्भपूर्ण लक्ष्य त्याग कर धर्म की शरण गहें

भारतीय पदावली या भारतीय दृष्टि को मानते ही कोई भी यह नहीं कह सकेगा कि वह राष्ट्र निर्माण या व्यक्ति निर्माण या मनुष्य निर्माण जैसे नास्तिक और दम्भपूर्ण लक्ष्य रखता है। वह केवल यही कहेगा कि हमें भारत में धर्म के प्रवाह को बलवत्तर बनाना है, श्रेष्ठ संस्कारों को फैलाना है, धर्म का उत्कर्ष करना है, अधर्म का अभिभव करना है, विकृतियों के उन्मूलन में सहायक सेवक बनने का प्रयास करना है और यह सब स्वयं के जीवन को सार्थक बनाने के लिए करना है, क्योंकि वस्तुतः हमारे प्रयास के बिना भी यह सब होना ही है। राष्ट्र की सेवा से हमारा अपना जीवन धन्य होगा। हमारी यह हैसियत नहीं है कि हम राष्ट्र निर्माण करें। राष्ट्र घायल नहीं है, हमारी चेतना का स्तर ही मन्द है और हमारी बुद्धि ही घायल है, हमारा मन ही क्लीव है। यहाँ इस सर्वज्ञात तथ्य का स्मरण भी आवश्यक है, क्योंकि उसे भुला दिया गया है कि क्लीव का अर्थ मुरझाया या सिकुड़ा हुआ होता है और भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को क्लीव इसी अर्थ में कहा था कि इस समय तेरा मन मुरझाया हुआ है। महाबली,

महावीर अर्जुन को योगेश्वर कृष्ण ने नपुंसक नहीं कहा था, क्लीव कहा था—अर्थात् मुरझाये हुए मन वाला। ‘क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ’—हे अर्जुन, मन को मुरझा मत, सिकोड़ मत। तुझे यह शोभा नहीं देता।—‘नैतत् त्वयि उपपद्यते।’

भारतीय दृष्टि की प्रक्रिया

क्लैव्य से शौर्य की ओर बढ़ने पर, ग्लानि से उत्साह की ओर बढ़ने पर, उदासी से उल्लास की ओर बढ़ने पर ही राजनैतिक विमर्श में भारतीय दृष्टि का सन्निवेश सम्भव है। उसके लिए चारों ओर व्याप्त अनुकूलता को देखने की सामर्थ्य अनिवार्य है। आज भारत में चारों ओर आध्यात्मिक उत्साह व्याप्त है। करोड़ों लोग योग तथा प्राणायाम के विभिन्न अनुशासनों और सदाचार का पालन करने का उत्साह रखते हैं। करोड़ों लोग राजनेताओं की निरर्थक बातों के स्थान पर उनसे कर्म की अपेक्षा रखते हैं। इस तथ्य को देखने पर ही वह उत्साह जग सकेगा, जो राजनैतिक विमर्श में भारतीय दृष्टि के सन्निवेश के लिए आवश्यक है।

भारत में लगभग 7-8 हजार लोग, जिनमें ज्यादातर अंग्रेजी ढंग से शिक्षित हैं, खुलेआम देशद्रोह कर रहे हैं और ‘ग्लोबल विलेज’ के लक्ष्य को पाने के लिए राष्ट्र भावना को शिथिल करने में दिन-रात लगे हैं, तो इससे सिर धुनने, पछताने और ग्लानि पालने का क्या तुक है? दम है तो उन्हें कुचल दो, युक्तिपूर्वक। या फिर दम बढ़ाओ, प्राणायाम करो, साधना करो।

वाहक कौन?

यहाँ यह तथ्य भी अवश्य चर्चा योग्य है कि किसी भी दृष्टि का सन्निवेश वस्तुतः उसका वाहक समूह करता है। भारत में अभी तक के जो राजनैतिक नारे हैं—समाजवाद, गरीबी हटाओ, यूरोप जैसा विकास चाहिए, आदि—इनको फैलाने का काम इनके वाहक समूहों ने किया है। इनमें से कोई भी नारे भारतीय मानस में से नहीं निकले हैं। वे यूरोप के अलग-अलग मतवादों से प्रेरित समूहों ने बलपूर्वक भारतीय मानस में आरोपित और प्रक्षिप्त किये हैं। अतः भारतीय दृष्टि के सन्निवेश के लिए भारतीय दृष्टि के वाहक समूहों को ही पुरुषार्थ और तप करना होगा। धर्मनिष्ठ चेतना से ये पुरुषार्थ होंगे।

ऐसा पुरुषार्थ और तप, परम्परा से हमारे धर्मकेन्द्रों और धर्माचार्यों के द्वारा सतत प्रवहमान है। यह बात अवश्य है कि किसी कारण से इन दिनों व्याप्त राजनैतिक विमर्श के प्रति वे उदासीन हैं और किसी भी नये राजनैतिक विमर्श की पहल की इच्छा उनमें नहीं दिखती। सम्भव है कि उन्हें कालप्रवाह का ज्ञान होने से अभी उसका समय आया नजर न आ रहा हो, परन्तु भारतीय दृष्टि का सन्निवेश जब भी होगा, इन महापुरुषों के द्वारा ही होगा।

1950-55 ईस्वी तक पूज्य स्वामी करपात्री जी महाराज के नेतृत्व में ऐसा प्रयास हुआ था। इन दिनों पूज्य स्वामी निश्चलानन्द सरस्वती जी महाराज कुछ उस प्रकार का पुरुषार्थ करते दिखाई पड़ते हैं। अन्य महापुरुष भी अपने अपने स्तर पर ऐसी सम्भावना को चरितार्थ करने वाले कार्य कर ही रहे होंगे। उसका ज्ञान हम लोगों को विस्तार से सम्भवतः नहीं है। पूज्य स्वामी दयानन्द जी सरस्वती, जो अभी कुछ समय पूर्व ही ब्रह्मलोक पधारे हैं, ऐसा कुछ प्रयास कर रहे थे। इस प्रकार राजनैतिक विमर्श में भारतीय दृष्टि का सन्निवेश जब भी होगा, भारतीय धर्माचार्यों और वेदों तथा शास्त्रों के ज्ञाता मनीषियों की इच्छा और पहल तथा आशीर्वाद से ही होगा। परा विद्या के क्षेत्र में, योग, अध्यात्म, साधना, भजन और सेवा के क्षेत्र में तो सहस्रों श्रेष्ठ धर्माचार्य कार्यरत हैं ही।

वर्तमान व्यवस्था के स्वरूप पर दृष्टि

वर्तमान व्यवस्था के स्वरूप पर थोड़ी गहरी दृष्टि डालनी आवश्यक है। स्पष्टता से समझने के लिए आरोपित उपाधियों और अलंकारों के पीछे के यथार्थ को जानना अपेक्षित होता है। वर्तमान में जो राजकीय व्यवस्था चल रही है, उसके स्वरूप को सहज रूप में देखने की आवश्यकता है।

इसमें सर्वप्रथम तो यह किया गया कि जो भारतीय राज परम्परा रही है, उसे तिरस्कार योग्य घोषित कर कालबाह्य करार दिया गया। इसका सबसे सांकेतिक लक्षण है एयर इण्डिया के सेवक के रूप में महाराजा का कैरिकेचर। भारत के परम्परागत महाराजाओं को नई व्यवस्था की उड़ान का परिचारक दर्शाने की श्री नेहरू और उनकी मण्डली की योजना उनके मानस का भलीभाँति परिचय देती है। इसी प्रकार परम्परा से वेदों और शास्त्रों के मर्मज्ञ तथा सदाचारी विद्वान ही महात्मा कहलाते थे। उसके स्थान पर एक राजनैतिक व्यक्ति को एकमात्र और अद्वितीय महात्मा की तरह प्रस्तुत किया जाने लगा।

यह सर्वविदित है कि यह सब बड़े पैमाने पर 1947 ईस्वी के बाद ही हुआ। निश्चय ही गाँधी जी को महात्मा कहने का आदरपूर्ण चलन 1930 ईस्वी के बाद एक सीमित राजनैतिक वर्ग में चल पड़ा था और उन्हें कांग्रेस पार्टी द्वारा जनता को आकर्षित करने के लिए जनसभाओं में ‘महात्मा’ कहकर उचित ही प्रस्तुत किया जाता था, परन्तु उस समय सभी को स्पष्ट था कि वे राजनीति के क्षेत्र की एक बड़ी आत्मा हैं, बड़ी विभूति हैं। परम्परागत अर्थ में वे महात्मा हैं, यह 1947 ईस्वी तक कभी भारत में किसी ने भी नहीं माना, परन्तु बाद में संचार माध्यमों और नाटकों तथा फिल्मों, कविताओं और लेखों आदि के द्वारा उन्हीं को एकमात्र वास्तविक महात्मा प्रचारित किया गया और भारत के परम्परागत महात्माओं को कुछ कालबाह्य या पिछड़ी चीजों में अनुरक्त अजूबों की तरह प्रस्तुत किया जाने लगा।

परन्तु ये प्रयास व्यापक समाज में कभी भी स्वीकृत नहीं हुए। आज भी परम्परागत महात्माओं का लोकमानस में अद्वितीय आदर है, परन्तु शासकीय दस्तावेजों में, पाठ्यक्रमों में और प्रचार माध्यमों में परम्परागत महात्माओं को हीन रूप में प्रस्तुत किया जाता है तथा केवल एक ही महात्मा को एकमात्र महात्मा बताया जाता है।

महाराजाओं को परिचारक का प्रतीक बना डाला

महाराजाओं को तो एयर इण्डिया के परिचारक का प्रतीक बना दिया गया, परन्तु सत्य तो अपनी जगह है। आज भी जो शासक हैं, वे निजी खर्चों और शान-शौकत से लेकर अधिकारों तक में महाराजाओं से बढ़-चढ़कर हैं। इस तुलना की वैसे कोई आवश्यकता नहीं है, अपितु इन दोनों प्रकार के महाराजाओं के गुणात्मक अन्तर को पहचानने की आवश्यकता है।

नये राजाओं के वैभव

पुराने राजाओं की जगह अब हर प्रान्त में राजाओं का एक मण्डल शासन करता है। पुराने अमात्यों या मंत्रियों की जगह सचिव नामक सरकारी अफसर काम करते हैं। परन्तु एक तो हर शासित इकाई में एक की जगह अनेक राजाओं का मण्डल है और यह मण्डल नितान्त अस्थायी और अपरिचित शील वाला है। तीन से पाँच वर्ष के लिए महाराजाओं के ये मण्डल अस्तित्व में आते हैं और इनके आचरण तथा शील की कोई भी कसौटी वह नहीं है, जो भारत में परम्परा से मान्य रही है।

परम्परागत भारतीय राजा तो भारत का धन कभी बाहर नहीं ले गए

इससे भी बढ़कर बात यह है कि भारत के राजाओं ने हजारों और लाखों वर्षों के इतिहास में कभी भी भारत का धन विदेशों में ले जाकर नहीं रखा। परन्तु नये राजागण अर्थात् अनेक मंत्रीगण और मुख्यमंत्रीगण तथा कई केन्द्रीय मंत्रीगण, कतिपय अफसरगण आदि अपने अघोषित धन का बहुत बड़ा हिस्सा विदेशों में ही ले जाकर जमा करते रहे हैं। यह धन कुछ ऐसे कानूनों के मकड़जाल के अन्तर्गत जमा किया जाता है कि उसका वापस भारत आ पाना लगभग असम्भव है और अनेक स्तरों पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून उसमें बाधा बनते हैं। प्रश्न यह है कि धन भारत का है, तो उसे इन राजाओं ने तथा इनके अनेक मंत्रियों ने भी विदेशों में ले जाकर क्यों रखा है? उस धन को भारत में लाना लगभग असम्भव क्यों बना डाला है? क्या कोई ऐसा कानून बनेगा, जो इस प्रकार भारत का धन अन्य देशों में ले जाकर वहाँ 'ब्लॉक' कर देने वालों की भारत में रही सम्पत्ति कुर्क करे और उन्हें दण्डित करे? कम से कम अभी के कानूनों में नये राजाओं ने इसकी कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी है।

पारम्परिक राजत्व की वैधता के स्रोत

ज्ञात कुलशील राजाओं पर नियंत्रण की सुपरिचित विधियाँ थीं। उनकी वैधता का स्रोत भारतीय धर्मशास्त्र, धर्म परम्पराएँ एवं लोक परम्पराएँ थीं। सर्वविदित है कि नये राजाओं की वैधता का स्रोत एक ऐसा राजनैतिक दस्तावेज है, जो उन्होंने स्वयं रचा है और जिसकी अद्वितीय महिमा भी वे स्वयं ही गाते हैं। भारत की किसी भी मान्यता या परम्परा अथवा शास्त्र या रीतिरिवाज से वह वैधता नहीं निकलती। इसके साथ ही हर तीन या पाँच या सात या दस वर्ष में राजाओं का मण्डल पूरी तरह बदल जाता है और नितान्त नये तथा अज्ञात शील वाले राजाओं का समूह सत्ता में आ जाता है, जिनके विषय में सत्तारूढ़ होने से पहले तक समाज में पूर्ण अनिश्चय की स्थिति होती है।

नये सचिवों को भारतीय ज्ञान परम्परा का ज्ञान नहीं, सम्मान नहीं

इसके साथ ही जो मंत्री हैं, जिन्हें इन दिनों सचिव, प्रमुख सचिव आदि कहा जाता है, उनको भारत के किसी भी शास्त्र या परम्पराओं का ज्ञान आवश्यक नहीं होता। उनकी वैधता का स्रोत भी स्वयं नये राजाओं और नये मंत्रियों (सचिवों) के मण्डल के द्वारा तैयार पाठ्यक्रम और परीक्षा की नितान्त अपरिचित और अजूबी प्रक्रिया है। भारत का लोकप्रवाह और शास्त्र एवं परम्पराएँ उनकी वैधता का स्रोत नहीं हैं। ऊपर से इन सब मंत्रियों यानी सचिवों के लगातार ट्रांसफर को कोई ऊँची नीति माना जाता है, जिसका अर्थ है कि अत्यन्त अस्थिर और अनिश्चित शासन तंत्र की रचना। स्पष्ट है कि यह केवल लूट की लालसा से रचित तंत्र है। इसका समाज से नारे और घोषणाओं के स्तर से बाहर किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है।

यूरोप में यह व्यवस्था नयी चीज थी

ऐसी एक अटपटी और भंगुर तथा मानो लूट के लिए ही बनायी गयी व्यवस्था को केवल इसलिए लोकतांत्रिक घोषित करना, क्योंकि वह हजारों वर्षों तक मध्यकालिक ईसाई चर्च तथा अत्याचारी राज परम्परा से पिसते रहे यूरोप में अपेक्षाकृत थोड़ी खुली साँस के लिए गुंजाइश बनाने वाली एक व्यवस्था है, भारत के सन्दर्भ में क्या अर्थ रखती है? संचार माध्यमों और व्यवस्था के विविध अंगों द्वारा कीर्तन किये जाने से तो उसकी महिमा प्रमाणित नहीं होती। उसके लिए कतिपय सार्वभौम निकष आवश्यक हैं और भारत में सुनिश्चित भारतीय निकष आवश्यक हैं। इनमें से किसी भी कसौटी पर ये व्यवस्था समाज का शुभ और कल्याण करने से जुड़ी प्रमाणित नहीं होती।

समाज के पुरुषार्थ और तप को बाधित करती व्यवस्था

इसके साथ ही समाज के सभी प्रकार के पुरुषार्थ और तप तथा कौशल और प्रज्ञा को वर्तमान व्यवस्था में अनधिकृत और तिरस्कृत घोषित कर दिया गया है। अपने

आहार-विहार, खरीद-बिक्री, बाजार-व्यापार, विद्या और हुनर तथा अपने भवन, भोजन, भूषा और भाषा पर भी समाज का कोई अधिकार रहने नहीं दिया गया है। सब कुछ एक नितान्त अजनबी और अपरिचित तथा आरोपित व्यवस्था के द्वारा नियंत्रित और परिचालित है। इसमें गर्व करने वालों का एक ढाँचा रच दिया गया है। केवल ऐसा ढाँचा ही उसकी वैधता का स्वतः प्रमाण मान लिया गया है। परन्तु इसे प्रमाण कौन मानेगा? केवल इस संकरे अंडाकार चक्कर से जुड़े लोग?

18वीं और 19वीं शताब्दी ईस्वी के यूरोपीयों के ज्ञान और शिक्षा के स्तर तथा स्वास्थ्य, स्वच्छता, शील, गरिमा और वैभव के स्तरों के विषय में आज विश्व भर में अनेक पुस्तकें प्रकाशित हैं, जो सभी इस बात का प्रमाण हैं कि उन दिनों के यूरोपीय लोग ज्ञान और वीरता, संस्कार और शील तथा नीति और व्यवहार में अत्यन्त अविकसित थे और भारत के लोगों से इन विषयों में उनकी कोई तुलना भी सम्भव नहीं थी। ऐसे लोगों द्वारा नई दुनिया के सम्पर्क में आने के बाद कामचलाऊ तौर पर पहले की बर्बरता से भिन्न कुछ उदार व्यवस्थाएँ रची गयीं, तो उनका आरोपण भारत जैसे सुसंस्कृत और वैभवशाली समाज पर करने वाले लोगों को भारतीय समाज का प्रतिनिधि मान पाना नीति और नियम के किसी भी निकष पर सम्भव नहीं है। किस आधार पर इन्होंने भारत की कृषि परम्परा, जल, भूमि और वन के प्रबन्धन की परम्परा, स्थापत्य और वास्तु की परम्परा, भोजन और चिकित्सा की परम्परा, स्वास्थ्य और दिनचर्या की परम्परा आदि को नष्ट करने का दुस्ताहस किया और उसे ही भारत का आवश्यक रूपान्तरण बताया, इस पर विचार किये बिना किसी भी नये राजनैतिक दर्शन की ओर बढ़ पाना सम्भव नहीं है। ज्ञान ही किसी भी राजनैतिक दर्शन का आधार हो सकता है, कल्पना और लालसाएँ तथा कल्पित मनोयोजनाएँ और प्रतिमाएँ इसका आधार नहीं हो सकती।

भारत का बेहिसाब धन 1947 ई. के बाद विदेशों को गया

जैसा कि प्रख्यात अर्थशास्त्री प्रो. कुसुमलता केडिया ने तथ्यों के आधार पर स्पष्ट किया है, 1757 ईस्वी से पहले तक भारत का एक किलो सोना भी भारत से बाहर नहीं गया। 1757 से 1947 ईस्वी तक अवश्य भारी लूट और एकतरफा हस्तांतरण हुआ, तब भी भारतीय व्यापार के वैभव के कारण उस अवधि में भी बहुत सारा सोना और चाँदी भारतीय माल के विनिमय के रूप में भारत आता रहा। अर्थात् उस अवधि में भी संसाधनों का इकतरफा हस्तान्तरण ब्रिटिश शासन के क्षेत्र में अवश्य हुआ, परन्तु व्यापार के क्षेत्र में धन आता भी रहा। जबकि 1947 ईस्वी के बाद से लगातार बहुत बड़े पैमाने पर भारत का धन नये राजाओं और सचिवों तथा उनके द्वारा पोषित नये व्यापारियों द्वारा विदेशों को भेजा जाता रहा है।

व्यापार की अनुचित शर्तों (इम्प्रॉपर टर्म्स आफ ट्रेड) तथा विनिमय दरों की मनमानी को स्वीकार कर नये राजाओं और सचिवों ने ये रास्ते बनाये हैं, जिनसे भारत का बेहिसाब धन विदेशों को गया है—कई खरब डॉलर। यहाँ मैं तथाकथित ‘काले धन’ भर की बात नहीं कर रहा, प्रकट एवं सार्वजनिक रूप से अमेरिका, पश्चिमी यूरोप, रूस आदि की गलत व्यापार शर्तों और गलत विनिमय मूल्यों को स्वीकार कर लगातार भारत का धन सरकारों ने दिया है। उस वास्तविक भ्रष्टाचार के विरुद्ध डॉ. लोहिया के बाद किसी ने आवाज तक नहीं उठाई।

नये व्यापारी

राज्य द्वारा विकसित पोषित नये व्यापारी परम्परागत अर्थ में व्यापारी नहीं हैं, ये भारतीय जनगण के द्वारा कर्तव्य के रूप में दी गयी राशि से संचित भारतीय राजकोष से अत्यन्त मनमानी शर्तों पर ऋण और अन्य सुविधाएँ तथा सस्ती दरों पर बिजली, पानी एवं अधो संरचनाएँ प्राप्त करने वाले नये राजाओं के प्रिय पात्र हैं। इनमें परम्परागत व्यापारियों वाला शील कहीं कभी एकाध जगह ही पाया जाता है। एक अर्थ में ये लोग नितान्त नये किस्म के व्यापारी हैं, जो अपने मुनाफे का वैसा बड़ा अंश समाज की इष्टापूर्ति में और दान में नहीं लगाते, जैसे अंश लगाने की भारत में परम्परा रही है। इसके स्थान पर वे ऐसी ही संस्थाओं को दान देते हैं या सहायता देते हैं, जो या तो उनके स्वयं के सुख विस्तार का माध्यम बनें या नये राजाओं और नये मंत्रियों (सचिवों) के सुख विस्तार का आधार बनें। समाज के सुख और कल्याण के लिए अपने व्यापार का बड़ा अंश लगाते हुए वे कभी नहीं देखे जाते। नये व्यापारियों के बारे में कुछ जानकारी सर्वोच्च न्यायालय ने माँगी ही है।

सत्तास्पधी दलों के कलह से समाज का क्या रिश्ता?

तो, ऐसी व्यवस्था के विषय में सर्वानुमति रखते हुए फिर मतदाताओं को आकर्षित करने के लिए कभी परस्पर सहमति से और कभी अन्य कारणों से अलग-अलग समूहों को उत्तेजित करने वाले और लुभाने वाले नारों तथा घोषणाओं के आधार पर नये राजा मण्डलों में परस्पर जो विरोध दर्शाया और प्रचारित किया जाता है, उसे वास्तविक मानना समाज में घोर अज्ञान फैलने के बाद ही सम्भव है। भगवत कृपा से ऐसा अज्ञान अभी भी लगभग 70 वर्षों के सघन प्रयास के बाद भी फैला नहीं है। समाज अभी भी इन सभी समूहों को नेता लोग ही कहता है। उनके बारीक भेदों की चर्चा केवल उनके अपने मंचों और उनके प्रिय संचार माध्यमों में ही होती है। उनके प्रिय संचार माध्यमों से भिन्न विशाल संचार माध्यम भारतवर्ष में हैं, जो धर्मकेन्द्रों के द्वारा प्रकाशित पत्र पत्रिकाओं तथा संचालित चौनलों आदि के रूप में हैं (जैसे ‘आस्था’, ‘संस्कार’, ‘सनातन’ आदि आदि)। इन विशाल संचार माध्यमों में कभी भी इन

राजनैतिक दलों के तथाकथित मतवादों के आपसी विवादों को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। इससे स्पष्ट है कि समाज में वैसा अज्ञान फैल नहीं सका, जैसा कि हमारे अस्थिर और अस्थायी राजा मण्डलों और उनके मंत्रियों (सचिवों) के द्वारा फैलाये जाने का प्रयास होता रहा है।

वर्तमान राजसत्ता के सैद्धान्तिक आधार

सभी जानते हैं कि वर्तमान में भारतीय राज्यसत्ता के वैचारिक सैद्धान्तिक आधार हैं

1. भारतीय संविधान नामक 1950 ईस्वी से लागू एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राजनैतिक दस्तावेज।
2. अंग्रेजों द्वारा 1912 से 1947 ईस्वी (लगभग 35 वर्षों) तक दिल्ली को केन्द्र बनाकर लगभग आधे भारत में रची गयी प्रशासनिक व्यवस्था के प्रशासनिक आदेश और कार्यवाहियाँ।
3. सोवियत संघ की नकल में चल रही आइडियालॉजिकल घोषणाओं वाली पार्टियाँ।

इन तीनों में से प्रथम दो की उत्पत्ति का स्रोत यूरो-क्रिश्चियन डेमोक्रेट चिन्तन है और तीसरी का स्रोत लेनिन स्तालिन तथा माओ जे दुंग नामक अपने अपने समाजों से कटे हुए दुष्ट लोगों के द्वारा परिकल्पित दमन योजनाएँ हैं। इन दोनों के घालमेल से भारत की वर्तमान राज्य व्यवस्था काम चला रही है। अतः इसे तो बदलना ही पड़ेगा। परन्तु बदलने से पहले इसके मूल स्वरूप की सही समझ अर्थात् वर्तमान विकृति का सही निदान आवश्यक है और उससे अधिक आवश्यक है अपने समाज की परम्पराओं और शास्त्रों को जानना।

पादरी रहे हैं सभी आधुनिक यूरोपीय विद्वान

आज तो आधुनिक शिक्षित भारत में इस बात पर भी कोई चर्चा नहीं होती कि आखिर ऐसा क्यों है कि विगत 200 वर्षों में पहली बार तथाकथित आधुनिक ज्ञान को सामने लाने वाले सभी दार्शनिक और अन्य विद्वान मूलतः ईसाई पादरी रहे हैं। यद्यपि उनमें से प्रायः सभी प्रमुख प्रतिभाशालियों ने बाद में मध्यकालीन ईसाइयत को सार्वजनिक रूप से अस्वीकार किया है। परन्तु ऐसा एक भी यूरोपीय विद्वान नहीं है जो किसी न किसी ईसाई मठ का वर्षों तक अन्तेवासी न रहा हो। यह विश्व विदित तथ्य भारत में चर्चा में ही नहीं लाया जाता, क्योंकि चर्चा में आते ही यह प्रश्न उठेगा कि तब भारत में कोई भी विद्वान तब तक भारतीय विद्वान कैसे कहला सकता है, जब तक वह किसी हिन्दू मठ का अन्तेवासी न रहा हो और/अथवा भारतीय शास्त्र परम्पराओं में से किसी एक का जिसने वर्षों तक अनुशीलन नहीं किया हो। इसीलिए यह चर्चा भारत के सार्वजनिक विमर्श में अनुपस्थित है।

आधारभूत मुद्दे

इस विषय पर विचार करते हुए कुछ आधारभूत मुद्दों पर चर्चा आवश्यक है

- (1) भारत में नये राजनैतिक विमर्श और उसमें भारतीय दृष्टि के सन्निवेश की आवश्यकता कौन लोग अनुभव करते हैं?
- (2) वर्तमान में किन किन राजनैतिक दर्शनों के अनुरूप समाज में काम हो रहे हैं?
- (3) राजनैतिक दर्शन और व्यावहारिक राजनीति का परस्पर सम्बन्ध क्या है?
- (4) राजनैतिक दर्शन का तत्त्व दर्शन से क्या सम्बन्ध है?
- (5) तत्त्व दर्शन और राजनैतिक दर्शन दोनों का ही किसी राष्ट्र या समाज की ज्ञान परम्परा से क्या कोई सम्बन्ध होता है या ये वैयक्तिक होते हैं और उस दृष्टि से सार्वभौम होते हैं, परन्तु समाज सापेक्ष नहीं होते?

इन पाँचों पक्षों पर संक्षेप में विचार उचित होगा। मुख्यतः तो भारत के सन्दर्भ में ही पहले विचार कर लेना पर्याप्त होगा।

सर्वप्रथम तो यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि वर्तमान में भारत में मुख्यतः निम्नांकित राजनैतिक दर्शनों के अनुरूप राजनैतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्यरत समूह सक्रिय हैं

- (क) कांग्रेस नामक एक प्रमुख राष्ट्रीय पार्टी है, जो 15 अगस्त, 1947 के बाद सत्ता हस्तान्तरण की प्रक्रिया में सत्तारूढ़ हुई। उसकी गाँधी जी और नेहरू जी के नेतृत्व वाली धारा को सत्ता का हस्तान्तरण वस्तुतः नेताजी सुभाषचन्द्र बोस की विजय से डर कर अंग्रेजों ने किया, क्योंकि विशेषतः नेहरू ने अंग्रेजों से अनेक प्रकार की संधियों के लिए उत्साह प्रदर्शित किया। जैसा कि ट्रांसफर ऑफ पावर के प्रकाशित दस्तावेजों से प्रमाणित है।

इस प्रकार वस्तुतः सम्पूर्ण कांग्रेस पार्टी सत्तारूढ़ न हो, यह इस धारा ने बड़ी चतुराई से तथा अंग्रेजों के घनिष्ठ सहयोग से सुनिश्चित किया। ट्रांसफर ऑफ पावर के जरिये सम्पूर्ण कांग्रेस पार्टी सत्तारूढ़ नहीं हुई, अपितु उसकी एक समर्पणशील और अंग्रेजों की आत्मीय धारा ही समर्पणपूर्वक सत्तारूढ़ हुई। उसने देश के अन्य वीर और तेजस्वी तथा राष्ट्रभक्त एवं सच्चरित्र समूहों को योजनापूर्वक सत्ता से बाहर रखने के लिए ही राष्ट्रघाती शर्तें स्वीकार कर पावर का ट्रांसफर अपने नाम करवाया और फिर ऐसा तुमुल कोलाहल मचाया कि उस शोर में सारी बातें दब जाएँ। फिर गाँधी जी की हत्या को एक अवसर की तरह इस्तेमाल कर भारतीय विचारों की वाहक राजनैतिक धाराओं पर ऐसा क्रूर प्रहार किया गया और कानून को ताक पर रखकर कुछ महीनों तक ऐसी मनमानी की गयी कि उससे हिन्दू महासभा की रीढ़ टूट गयी और एक ऐसा वातावरण बनाए जिससे शिक्षा और संचार के माध्यमों में एकाधिकार की नेहरूपंथी

धारा की सारी ही चेष्टाएँ बिना पर्याप्त विरोध के सम्भव हो सकीं। प्रचण्ड तेजस्वी राष्ट्रनेता वीर सावरकर को वर्षों नजरबंद कर उनका पुरुषार्थ बाधित रखा गया।

यह धारा गाँधी जी को शेष भारतीय राजनैतिक समूहों को पीटने का केवल एक उपकरण बनाकर चली। गाँधी जी के किसी भी विचार से उसका पूर्ण विरोध रहा—रामराज्य, स्वावलम्बन, स्वदेशी, गौरक्षा, सनातन धर्म, धर्म निष्ठा, भारतीय ज्ञान परम्परा में श्रद्धा, वेदों, उपनिषदों और गीता में श्रद्धा, रामायण तथा महाभारत में श्रद्धा, भारत के ब्राह्मणों और ऋषियों तथा विद्वानों में श्रद्धा, धर्मान्तरण का प्रचण्ड विरोध, धर्मान्तरण के ईसाई मिशनरी कामों को राष्ट्रद्रोह का पर्याय घोषित करना, नेहरूपंथी समाजवादी विचारों को हिटलर के विचारों से कई गुना अधिक भयंकर बताना आदि गाँधी जी के एक भी विचार एवं आदर्श इस धारा ने एक दिन को भी नहीं माने। इनमें से किसी ने कभी एकादश व्रत का पालन नहीं किया, कभी स्थितप्रज्ञ होने को जीवन का शीर्ष लक्ष्य नहीं माना। गाँधी जी ने बारम्बार यह कहा कि जिस अहिंसा की बात मैं कर रहा हूँ, वह भारत में कभी भी नहीं थी और भारत के सभी देवी देवता शस्त्रधारी हैं तथा मेरे द्वारा परिकल्पित अहिंसा मेरी नितान्त निजी परिकल्पना है। परन्तु इस धारा ने उसी विचित्र और विश्व में कहीं भी आज तक व्यवहार में नहीं आने वाली अहिंसा को भारत का स्वभाव प्रचारित किया तथा इसके लिए राज्यतंत्र का भरपूर दुरुपयोग कर इस झूठ को व्यापक बनाया। इसका ऐसा घातक प्रभाव हुआ कि जिस जनसंघ का जन्म भारतीयता के पोषण के लिए हुआ था, अटलबिहारी वाजपेयी जी के नेतृत्व तक आते आते वही धारा स्वयं को नेहरूपंथी समाजवाद के निकट बताने लगी तथा इतिहास और दर्शन तथा समाज के विषय में उसके द्वारा प्रचारित सभी असत्य मान्यताओं को गाँधीवादी समाजवाद नामक अजूबे की आड़ में मानने लगी।

नेहरूई धारा ने ब्रिटेन की भी सर्वोत्तम परम्पराओं को कभी भी स्वीकार नहीं किया। इसने भारत के बहुसंख्यकों के धर्म को राज्य द्वारा विशेष संरक्षण दिये जाने को राजधर्म नहीं माना, जो कि ब्रिटेन की राजनैतिक व्यवस्था का सार है।

इस धारा ने भारत के संविधान की भी आधारभूत स्थापनाओं को प्रशासनिक हथकण्डों और प्रचार तंत्र के द्वारा लोकमानस से छिपाया और उनके विपरीत कार्य किया, जिसके थोड़े से उदाहरण यहाँ पर्याप्त होंगे

1. संविधान में सम्पत्ति को मौलिक अधिकार माना गया था। कांग्रेस की नेहरूई धारा ने उसे समाप्त कर दिया।
2. संविधान में सभी को अभिव्यक्ति की आज़ादी की व्यवस्था है। इस प्रकार संविधान यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति में चिन्तन और मनन की सामर्थ्य है। इसके स्थान पर इस धारा ने बिना खुली घोषणा के सोवियत संघ को अपना वैचारिक आदर्श माना और यह मान लिया कि मनुष्यों में

सोचने की सामर्थ्य सामान्यतः नहीं होती। उनका कुल एक ही काम है कि कतिपय विशेष राजनैतिक विचारकों के वैचारिक पंथानुशासनों (आइडियालॉजी) में से किसी एक के समर्पित अनुयायी बन जाएँ। अपनी स्वतंत्र बुद्धि की उनमें सामर्थ्य नहीं होती और उन्हें इसका अधिकार भी नहीं है।

3. इसी मान्यता के कारण इस धारा ने भारत के वातावरण में पहली बार आइडियालॉजी नामक एक विचित्र अजूबी चीज को अद्भुत प्रतिष्ठा दी और एक तरह से धींगामुश्ती का माहौल रचकर समाज में संचार माध्यमों से यह विवशता पैदा की कि भारत के 125 करोड़ लोगों में से प्रत्येक व्यक्ति 7 या 8 विचार पंथों में से किसी एक का अनुयायी होने को विवश है। इस प्रकार लगभग 16 या 18 करोड़ लोगों का कोई एक वैचारिक नेता होगा, जिसके प्रति उन्हें समर्पित रहना है, अपना कोई स्वतंत्र विचार नहीं रखना है, ऐसा भयंकर राजनैतिक वातावरण इस धारा ने रचा।
4. भारत के संविधान में पार्टियों का कोई विशेष स्थान नहीं है, परन्तु भारत के राजनैतिक वातावरण में इस धारा ने पार्टियों का सर्वोच्च स्थान बना दिया। इस विषय में भी उसने इंग्लैण्ड का भी अनुसरण नहीं किया। क्योंकि भारत का क्षेत्रफल रूस को छोड़कर समस्त यूरोप के बराबर है, जहाँ 30 से अधिक देशों में 100 से अधिक पार्टियाँ कार्यरत हैं, परन्तु इस धारा का प्रयास रहा कि इस विशाल राष्ट्र में 5 या 6 पार्टियाँ ही रह सकती हैं, बल्कि जहाँ तक हो, केवल एक या दो पार्टियाँ ही रहें।
5. यदि हम संविधान को ध्यान से पढ़ें, तो बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि उसके निर्माता यह मानकर चल रहे थे कि लोकतंत्र के कारण भारत में हिन्दू बहुसंख्यक होंगे और उनकी ही संस्कृति तथा सभ्यता एवं परम्पराएँ भारत में प्रभावी होंगी। इसीलिए उन्होंने वेदों में प्रतिपादित तथा भगवान बुद्ध द्वारा प्रवर्धित करुणा के आदर्श के अनुरूप अल्पसंख्यकों के प्रति करुणा भाव से कई व्यवस्थाएँ कीं, परन्तु इस धारा ने भयंकर बौद्धिक लम्पटता दिखाते हुए उस व्यवस्था में से केवल अल्पसंख्यकों वाले प्रावधानों पर ध्यान केन्द्रित किया और उनका अतिरंजित गौरव गान किया तथा भारत के बहुसंख्यकों को अपने धर्म और ज्ञान परम्परा के पोषण के अधिकार से वंचित कर दिया। राजकीय अनुदान प्राप्त कोई भी संस्था हिन्दू धर्म की शिक्षा नहीं दे सकती, परन्तु कोई भी अल्पसंख्यकों द्वारा बनायी गयी संस्था अपने अपने मजहबों और रेलिजन—ईसाइयत, इस्लाम आदि—की भरपूर शिक्षा देगी, बाइबिल, कुरान, हदीस आदि पढ़ायेगी, मजहबी आस्थाओं के प्रति गौरव भाव जगायेगी, परन्तु हिन्दू धर्म के प्रति

गौरव भाव जगाना, राजकीय वित्त पोषित केन्द्रों में वेद, महाभारत, रामायण, गीता, उपनिषद्, पुराण आदि पढ़ाना लगभग अपराध माना जायेगा।

6. इस धारा ने सोवियत संघ की नकल करते हुए राष्ट्र की सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी राज्य को बना दिया, इस पर कभी कोई बहस भी नहीं चलायी।
7. इस धारा ने शिक्षा और संचार माध्यमों पर राज्य का एकाधिकार स्थापित कर मुख्यतः प्रशासनिक अफसरों (जो सफल नेताओं के प्रति चाटुकारिता के विशेष प्रशिक्षण में दक्ष परन्तु अपने लक्ष्यों पर एकाग्र रहते हैं) के नियंत्रण में विश्वविद्यालय, समस्त शिक्षा तंत्र और संचार माध्यमों पर वैचारिक नियंत्रण स्थापित किया।
8. इसके साथ ही अकादमिक क्षेत्रों में सरकार के द्वारा मान्यता मिलने पर ही कोई व्यक्ति विद्वान माना जाए, इसकी व्यवस्था की। तदनुसार अनेक अकादमियों तथा परिषदों की स्थापना पूर्णतः शासकीय नियंत्रण में की गयी और स्वायत्तता की एक छलपूर्ण व्याख्या की गयी, जिसमें प्रशासकों का नियंत्रण ही किसी संस्थान की स्वायत्तता का पर्याय मान लिया गया। इनमें से कोई अकादमी और परिषद अपने आसपास के समाज और भारत राष्ट्र की मान्यताओं तथा ज्ञान परम्पराओं से किसी प्रकार का सामान्य सम्बन्ध नहीं रखती, हाँ उनके दमन की हैसियत अवश्य रखती है।
9. इसी धारा ने संस्कृति के नाम पर अफसरों के द्वारा परिकल्पित गतिविधियों को ही भारतीय संस्कृति का पर्याय घोषित किया।
10. इसी धारा ने संसद की आरम्भिक बैठकों में उन सभी एंग्लो सेक्सन कानूनों को अभिप्रमाणित (वेलिडेट) कर दिया, जिन कानूनों के अनुसार नेताजी सुभाषचन्द्र बोस युद्ध अपराधी थे, गाँधी जी, नेहरू जी आदि राजद्रोही थे, तत्कालीन अनेक साधु सन्त ठग और डकैत थे, भारत के वीर क्रान्तिकारी सपूत भारत राष्ट्र को नष्ट करने वाले गलत तत्त्व थे और राजद्रोही थे, गाँधी सहित सभी कांग्रेसी नेता बारम्बार शान्ति भंग और व्यवस्था भंग के अपराधी थे, इत्यादि। उन सभी कानूनों को इस धारा ने वेलिडेट कर दिया। अपने इस महापाप को छिपाने के लिए इस धारा ने वास्तविक अपराधियों, दुराचारियों एवं समाजद्रोहियों के प्रति अद्भुत उदारता की कुनीति अपनायी। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की ताजा घटना को कांग्रेस का समर्थन एवं भाजपा का दबूपन इसका ताजा वृष्टान्त है।

कहना न होगा कि वस्तुतः आज सम्पूर्ण प्रभावी राजनैतिक परिवेश में इस धारा की ही विभिन्न उपधाराएँ सक्रिय हैं, जो इनमें से अधिकांश बातों पर गहरी श्रद्धा रखती हैं।

(ख) दूसरी प्रमुख पार्टी भारतीय जनता पार्टी है, जो प्रारम्भ में पूर्णतः भारतीय आदर्शों और सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा रखती थी, परन्तु अपने एक भी स्वतंत्र विद्या केन्द्र नहीं रच पाने के कारण यह धारा बौद्धिक क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय पुरुषार्थ और तप नहीं कर सकी तथा निरन्तर अपने घोषित विचार बदलती रही, कभी गाँधीवादी समाजवाद, कभी एकात्म मानववाद और कभी सबका साथ सबका विकासवाद, जिसमें अमेरिकी किस्म का विकास ध्यान में सर्वोपरि दिखता है। क्योंकि विकास का जो नारा अमेरिकी राष्ट्रपति ने पहली बार 1950 के दशक में दिया और दुनिया भर में अपने एजेण्टों के जरिये प्रभावशाली बनाया, उसी विकास की बात इन दिनों की जा रही है, जिसे विश्व की अनेक धाराएँ और विश्व के श्रेष्ठ वैज्ञानिक वस्तुतः अन्यायपूर्ण और विनाशकारी बताते हैं। यों शोभा के लिए भारतीयता की बात करते हुए अन्य प्रकार के विकास की चर्चा भी होती रहती है, परन्तु विकास के नाम पर सारा ही जोर उन्हीं चीजों पर है, जिसे 1950 के दशक से अमेरिका ने दुनिया में फैलाया।

एकात्म दर्शन को मानने वाला कोई भी व्यक्ति कभी भी किसी मतवाद की बात कर ही नहीं सकता, क्योंकि यदि आप भारत की इस ज्ञान परम्परा को न भी मानें कि ज्ञान की शक्ति केवल मनुष्यों में नहीं, अपितु अन्य प्राणियों में भी है और ज्ञान संवेदनाओं के अनेक प्रकारों में कुछ अन्य प्राणी मनुष्यों से बहुत बढ़े-चढ़े हैं, इसे न मानने पर भी यदि आप केवल सभी मनुष्यों के भीतर चिन्मय सत्ता का प्रकाश मानते हैं तो फिर आप केवल सनातन और सर्वव्यापी सार्वभौम नियमों और प्रक्रियाओं की बात करेंगे। किसी मतवाद की बात तो तब हो ही नहीं सकती। सत्य, अहिंसा, संयम, अस्तेय आदि सार्वभौम आदर्शों की कसौटी पर ही तब प्रत्येक राजनैतिक कर्म को कसना होगा। किसी मतवाद की आड़ में नितान्त असत्य और हिंसक उपायों के पक्ष में आप तर्क नहीं दे सकते। जबकि राजनैतिक मतवादों में से प्रत्येक प्रकार राज्य को समाज का गड़ेरिया या चरवाहा और समाज को भेड़ें या गाड़ मानता है। राज्य के विविध अंगों में से एक—विधायिका में व्यापक समाज से भी कुछ ऐसे लोग शामिल हो सकें, जो राज्यकर्ता समूह की आस्थाओं और मान्यताओं में श्रद्धा रखते हों। ऐसी व्यवस्था है। परन्तु इससे वस्तुतः राज्य में समाज की सहभागिता प्रमाणित नहीं होती। उसी प्रकार, जिस प्रकार कतिपय साहसी और छल बल में निपुण गुलामों के कभी-कभी मुस्लिम बादशाह बन जाने से यह नहीं प्रमाणित होता कि तत्कालीन इस्लाम सभी गुलामों को शासन के अधिकार देता था।

मोदी जी ने संसद को साष्टांग प्रणाम कर वर्तमान लोकतंत्र की जो महिमा बखानी थी, वह कृतज्ञता ज्ञापन के रूप में एक सुन्दर कार्य था, परन्तु सचमुच प्रत्येक योग्य व्यक्ति भारत में उचित स्थान पा ही जाता है, यह सिद्धान्त उसमें से निकालना अतिचार होगा।

एकात्म दर्शन यदि समस्त प्राणियों में न सही, केवल मनुष्यों में भी समानता माने तो भी संस्कार भेद, पात्रता भेद, अधिकार भेद, पुरुषार्थ भेद, विगत जन्मों के संचित प्रारब्ध आदि के आधार पर वैविध्य को तो मानना ही होगा। तब फिर वह केवल पिछले 150 वर्षों में पनपे भाँति भाँति के यूरोपीयवादों को शेष मनुष्यों पर शासन का अधिकारी मानने की अमानवीय आस्था कभी भी नहीं पाल सकता, क्योंकि वे आस्थाएँ वस्तुतः मध्यकालीन चर्च की भयंकर मानवद्रोही आस्थाओं का ही सेकुलरीकृत रूप हैं, जो कि अन्ततः भेड़ चरवाहा सिण्ड्रोम का ही अनुसरण हैं।

मनुष्यों में चेतना की सामर्थ्य मानने पर आप केवल सार्वभौम और वैश्विक नियमों तथा आदर्शों की और उनके अनुरूप समाज को गतिशील रखने की व्यवस्था के कर्तव्य की बात कर सकते हैं। कतिपय लोगों के मस्तिष्क में उठने वाली कुछ विशेष विचार तरंगों, भाव तरंगों या खुजलियों को आइडियालॉजी कहकर शेष मानव जाति को उनके अधीन लाने की भयावह कल्पना तब आप नहीं कर सकेंगे, क्योंकि यह भयंकर नास्तिकता होगी, ईश्वरद्रोह होगा और अतिसाहस होगा। जो विधाता के नियमों के अनुसार दण्डनीय अपराध है। यूरोपीय किस्म केवादों पर निष्ठा धर्मबोध की शून्यता का प्रमाण है।

यूरोपीय मनुष्यों को अधिक विकसित मानने पर तथा उनका अनुसरण करना ही भारतीयों की धन्यता है, यह मानने पर उस अनुसरण को विकास की संज्ञा दे देने से एकात्म मानववाद कैसे सिद्ध होता है? वैसे भी एकात्म मानववाद का चराचर जगत की एकात्मता से क्या सम्बन्ध है, यह बहुत थोड़े एकात्म मानववादी ही स्पष्ट कर पाते हैं।

प्रथम यूरोपीय महायुद्ध और द्वितीय यूरोपीय महायुद्ध के बीच तथा द्वितीय के थोड़ा बाद अनेक राष्ट्र दोनों युद्धरत पक्षों ने बलपूर्वक रचे हैं। उन राष्ट्रों की चिति की पहचान कैसे होगी? सनातन स्वाभाविक राष्ट्र भारत की चिति की बात तो समझ में आती है, लेकिन जो इंग्लैण्ड या फ्रांस या जर्मनी या स्वीडन या स्विट्जरलैण्ड या पुर्तगाल या स्पेन 200 वर्ष पूर्व तक तो कभी भी राष्ट्र नहीं थे, उनकी चिति की पहचान और विश्लेषण का आधार क्या होगा? पाकिस्तान, बांग्लादेश, अफगानिस्तान, नेपाल, ईरान, इराक, तुर्कमेनिस्तान, ताजिकिस्तान, कजाकिस्तान, उज्बेकिस्तान, किरगिजिस्तान, अजरबैजान, कुवैत, सऊदी अरब, यमन, ओमन, कतर, बहराईन, जार्डन, लेबनान, सर्बिया, बल्गारिया, रोमानिया, अल्बानिया, अल्जीरिया, फिनलैण्ड, स्लोवेनिया, मारीटानिया, मोरक्को, गिनी, नाइजर, चाड, मेडागास्कर, सेनेगल, वेनेजुएला, लिथुवानिया, लाटविया, ऐस्ट्रोनिया, बेलारूस, यूक्रेन, आदि आदि की राष्ट्रीय चिति क्या होगी? उसे कैसे पहचानेंगे? प्रशा, आस्ट्रिया, हॉब्सवर्ग आदि की राष्ट्रीय चितियों का क्या हुआ? इटली और वेटिकन दो अलग अलग राष्ट्र हैं, जिनमें से वेटिकन की कुल आबादी कुछ सौ है और 125 करोड़ की महान जनसंख्या वाले देश के महान

प्रधानमंत्री अटलबिहारी वाजपेयी जी ने वेटिकन राष्ट्र के प्रधान का बराबरी से, बल्कि बराबरी से भी अधिक आदर भाव से स्वागत किया था, उस वेटिकन की चिति और इटली की चिति में क्या अन्तर है और भारत की किस चिति के अनुरूप ऐसे किसी पापात्मा का स्वागत उचित है, जो मुँह पर ही हमारे धर्मान्तरण का अधिकार और दावा कर रहा हो? इन प्रश्नों का उत्तर दिये बिना किस एकात्मवाद पर गहरी बात हो सकती है? नारे और लुभावने कथनों की बात अलग है। जिस क्षण आप शासक के रूप में भारत में ऐसे समूहों को खुली छूट देते हैं, जो सम्पूर्ण भारत को ईसाई या मुसलमान या कम्युनिस्ट आदि बनाने की घोषणा करते हों, उसी क्षण आप भारत राष्ट्र और सनातन धर्म के विरुद्ध तथा उसके विनाश के लिए तत्पर समूहों के पक्ष में राजदण्ड का पापपूर्ण प्रयोग करने के अपराधी बन जाते हैं। विडम्बना यह है कि जिसने जीवन में कभी भी 'राजधर्म' प्रत्यय को अपने राजनैतिक चिन्तन का केन्द्र नहीं बनाया, वह भी अचानक राजधर्म राजधर्म चिल्लाते देखा जाता है, ऐसी मनमानी हमारे राजनैतिक परिवेश में व्याप्त है।

विचार की बात तो केवल यह होनी चाहिए कि भारत जैसे महान ज्ञान परम्पराओं वाले समृद्ध देश में यह 150 वर्षों में विकसित भाँति-भाँति की आइडियालॉजी वाली मर्कट चेष्टाएँ इतनी व्यापक रूप से लोकप्रिय किन माध्यमों के कैसे दुरुपयोग द्वारा हो सकीं? सामान्यतः तो इस समाज में ऐसे सभी तरंगों या खुजलियों के प्रति वितृष्णा ही होनी चाहिए थी। परन्तु शिक्षा और संचार माध्यमों पर एकाधिकार के कारण ऐसी असामान्य बात भारत में एक प्रवृत्ति बन सकी, इस सत्य को पहचानना किसी भी राजनैतिक दर्शन या सत्यनिष्ठ किसी भी सामाजिक इच्छा के लिए पहली आवश्यकता है, ऐसा मुझे लगता है। मैं स्वयं ऐसे एक दो मतवादों के बहाव में कुछ वर्षों रहा, इसलिए इनके घातक प्रभाव से मैं परिचित हूँ।

(ग) कुछ अन्य प्रमुख पार्टियाँ समाजवादी तथा बसपा आदि हैं। समाजवादियों के शीर्ष नेता डॉ. राममनोहर लोहिया ने एक स्वतंत्र राजनैतिक दर्शन विकसित किया था, परन्तु उनके पास समय कम था और काम बहुत अधिक था तथा उनकी कोई भी बौद्धिक परम्परा विकसित नहीं हो सकी, परिणामस्वरूप आज उनकी धारा में यादववाद, कुर्मीवाद आदि कुछ विचित्र वाद ही बचे हैं और उन्हें ही समाजवाद कहा जाता है।

इसका सबसे रोचक तथ्य यह है कि इन जातियों के अपने इतिहास ग्रन्थ भी धड़ल्ले से छप रहे हैं, जिनमें इन्हें शताब्दियों से सगौरव भारत के राज्यकर्ता बताया जाता है। उदाहरण के लिए श्री आई. जे. सिंह यादव जी की प्रख्यात पुस्तक 'यादवाज श्रू द एजेज' है। लेखक ने इस ग्रन्थ में सप्रमाण बतलाया है कि वैदिक काल से 16वीं-17वीं शती ईस्वी तक यादव लोग भारत के विशाल क्षेत्र में राजा रहे हैं। पुस्तक के लेखक ने भूमिका में बताया है कि सभी पार्टियों के सभी श्रेष्ठ यादव नेतागण

(लेखक ने सबके नाम लिखे हैं) इस महाग्रन्थ के तथ्यों से परिचित हैं और सबने लेखक को इसे लिखने के लिए प्रोत्साहित किया है। ग्रन्थ के अनुसार यादवों से राज्य कुछ जगह मुसलमानों ने छीना और शेष जगह ईसाइयों ने, फिर भी वे अपने हजारों साल से पिछड़े होने की बात करते हैं और सत्ता, सम्पत्ति तथा प्रतिष्ठा, सब कुछ उनके पास हजारों साल होने पर भी स्वयं के पिछड़ेपन के लिए उस हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म को दोषी बताते हैं जिसने इनको हजारों साल सत्ता, सम्पत्ति और प्रतिष्ठा दी।

इस कसौटी पर अभी तक ब्राह्मणों और राजपूतों ने स्वयं के पिछड़ेपन का दोष हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज को नहीं दिया है और आरक्षण की उग्र माँग नहीं की है, यही परम आश्चर्य है।

क्षत्रिय कह सकते हैं कि हमने तो सदा ही समाज रक्षा के लिए रणभूमि में प्राण न्योछावर किये और विजेता मुसलमानों और ईसाइयों ने हम में से अधिकांश को दरिद्र बना दिया। आज 50 प्रतिशत से अधिक क्षत्रिय परिवार गरीब हैं, अतः आरक्षण के प्रथम अधिकारी तो हम ही हैं।

ब्राह्मण कह सकते हैं कि हमें तो हजारों वर्ष तक केवल मान सम्मान देकर ज्ञान, तप और संयम के लिए नीरस कठोर जीवन जीने को विवश किया, हमारे ही सिर काटकर, हमारे मनो मन जनेऊ तौल तौल कर औरंगजेब आदि ने जशन मनाया। आज हमारी ही निन्दा होती है। हममें से 80 प्रतिशत से अधिक गरीब है, 60 प्रतिशत तो अति गरीब हैं। पूवी उत्तरप्रदेश आदि में लाखों ब्राह्मण स्त्रियाँ अन्यो के घर के बर्तन माँजती, झाड़ू लगाती और कपड़े धोने को विवश हैं, अतः आरक्षण के सर्वोच्च और सर्वप्रथम अधिकारी तो हम ब्राह्मण ही हैं।

राजनैतिक बहसों की भारतीय स्थिति ऐसी हास्यास्पद हो चुकी है कि इसमें ब्राह्मण और क्षत्रिय आरक्षण नहीं माँग रहे हैं, यह परम विस्मय का विषय है। अनेक योद्धा और शासक समूह तथा कृषि भूमि, कृषि पशु सहित अनेक प्रकार की सम्पदाओं के स्वामी समूह तो आरक्षण माँग ही रहे हैं और कइयों ने चतुराई से ले भी लिया है। सचमुच माया मण्डल का साकार रूप है वर्तमान भारतीय राजनीति।

बसपा इसी धारा की एक अन्य एकांगी धारा है, जो कतिपय जाति समूहों को अपना केन्द्र अथवा मर्म भाग बनाकर व्यापक समाज में प्रभावी शक्ति के रूप में खड़े होने के लिए राजनैतिक कार्य करती है। कथित अस्पृश्य जातियों की जनसंख्या पहली जनगणना में ब्रिटिश भारतीय क्षेत्र में 4 प्रतिशत पाई गई थी। उसमें कुछ अन्य जातियों को जोड़कर एक व्यापक सूची बनी तो वह भी जनसंख्या के 8 प्रतिशत तक ही पहुँच पायी है। फिर कांग्रेस ने उसमें वनवासी जातियों को भी जोड़ा, तब वह जनसंख्या का 14.5 प्रतिशत हुई। गणित के अद्वितीय नियम से 15 प्रतिशत को भारत में बहुजन कहा जाता है और उसमें भी मुख्यतः 8 या 8.5 प्रतिशत पर ही अत्याचारों की गिनती गिनाकर उसे ही बहुजनों पर अत्याचार बताया जाता है। इस प्रकार हर

शब्द का मानो कोई अर्थ ही नहीं बचा। फिर अचानक परम शोषक बताया जा रही जाति ब्राह्मणों से तालमेल बनाकर बसपा सत्ता में आ जाती है। यह है भारतीय राजनीति का वर्तमान। यह किस विमर्श का अंग है? हुड़दंगी और खुली सत्ता लोलुपता का अंग यह अवश्य है।

(घ) एक अन्य पक्ष भारत की कम्युनिस्ट पार्टियों का है, जो मुख्यतः श्री जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व वाली धारा के संरक्षण में पोषित हुई। यह धारा स्वयं को मार्क्सवादी कहती है, जबकि विश्व में सबको पता है कि मार्क्स की मूल स्थापना के अनुसार उन्नत प्रौद्योगिकी ही उन्नत चेतना का आधार होती है और इसीलिए क्रान्ति केवल प्रौद्योगिक दृष्टि से उन्नत समाजों में ही सम्भव है। जिस दिन मार्क्स की मूल स्थापना को पूरी तरह उलट कर स्तालिन और लेनिन तथा माओ ने गरीब समाजों में तथाकथित क्रान्ति की कल्पना की, उस दिन ही मार्क्स के दर्शन का उन्होंने वैसा ही वध कर डाला, जैसा मोहम्मद साहब के वारिसों का इस्लाम के कुछ अनुयायियों ने किया था। अतः सोवियत संघ और चीन की घटनाओं के बाद उनके अनुसरण में कार्यरत किसी भी गुट को मार्क्सवादी कहना मार्क्स जैसे व्यक्ति का घोर अपमान है और उनके आदर्शों की हत्या है। आज विश्व में कहीं भी कोई मार्क्सवादी पार्टी नहीं है, क्योंकि ऐसी कोई भी पार्टी जब भी होगी, वह संयुक्त राज्य अमेरिका या पश्चिमी यूरोप में होगी। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि पश्चिमी दर्शनों के इतिहास की किसी भी महत्वपूर्ण पुस्तक में मार्क्स को उल्लेखनीय दार्शनिक नहीं माना जाता। उसे केवल राजनैतिक अर्थशास्त्र का विश्लेषक माना जाता है। बहरहाल भारत, रूस और चीन की कम्युनिस्ट पार्टियों ने तो मार्क्स के मूल प्रतिपादनों को ही अस्वीकृत कर दिया था।

(च) इसके अतिरिक्त भारत में इस्लाम के प्रति शपथबद्ध अनेक राजनैतिक समूह हैं, जो सम्पूर्ण भारत सहित सम्पूर्ण विश्व में केवल इस्लाम का आधिपत्य स्थापित करने के लिए कार्यरत हैं, जिनके विषय में श्री तारिक फतह ने सप्रमाण बतलाया है कि वे परमाणु युद्ध से होने वाले महाविनाश के बाद भारत में तथा अन्यत्र ईंटों और पथरों तथा लाठियों तलवारों-फरसों गड़ाइयों आदि के द्वारा इस्लाम का एकाधिकार स्थापित करने का स्वप्न रचते हैं और महाविनाश उन्हें अपने लिए एक सम्भावित स्वर्णिम अवसर प्रतीत होता है।

(छ) साथ ही पिछले कई सौ वर्षों से कार्यरत ईसाई समूह हैं, जो सैंकड़ों सालों से बहुत हड़बड़ी में हैं, क्योंकि दूसरी शती ईस्वी से ही उनका प्रचार चल रहा है कि बस 'लास्ट डे ऑफ जजमेण्ट' आने ही वाला है और इसीलिए

आत्माओं की फसल जल्दी जल्दी काटना जरूरी है ताकि अन्तिम दिन कहीं गॉड से शैतान जीत न जाये। ऐसा न हो कि शैतान के पक्ष में अधिक आत्माएँ खड़ी हो जाएँ और जीसस पिता गॉड हार जाएँ। क्योंकि तय है कि जो जीसस पिता गॉड की शरण में नहीं आया, वह शैतान के पक्ष में ही खड़ा है और यह संख्या बहुत बड़ी है।

(ज) इसके साथ ही भाँति-भाँति की क्षेत्रीय अस्मिताओं से प्रेरित और परिचालित अनेक राजनैतिक समूह भारत में कार्यरत हैं और वे अपनी अपनी सामूहिक अस्मिताओं को बलशाली बनाने पर ही एकाग्र हैं। उनकी गति और मति वहीं तक है। इसी में विविध अफसरों के गुट और अन्य प्रकार के समूह भी हैं, जो वस्तुतः केवल अपनी सामूहिक पहचान और अपने समूह की शक्ति के विस्तार तक ही एकाग्र हैं, उनके लक्ष्य इतने सीमित हैं कि उन्हें ही ढँकना आवश्यक है और इसलिए देश की बात करते रहना तो आवश्यक है ही।

ऐसी परिस्थिति में नये राजनैतिक दर्शन के सन्निवेश की आवश्यकता किसे है? मेरा अनुमान है कि श्री पंत जी की दृष्टि में यह आवश्यकता उक्त समूहों से अनभिभूत व्यापक समाज को है। सम्भवतः यह सही है, परन्तु यह काम तो बहुत बड़ा है। ऐसे काम विद्या केन्द्रों के द्वारा ही हो पाते हैं। किसी एक या कुछेक प्रतिभाशालियों के विचारों से कोई चिनगारी तो उठ सकती है, परन्तु वह चमक कर बुझ ही जायेगी। व्यवस्थित और विराट प्रयासों से ही ऐसा सम्भव है।

परन्तु भारत में तो पिछले लगभग 100 वर्षों से ऐसा कोई विद्या केन्द्र सफलता से फैल नहीं पाया है। महामना मालवीय ने सनातन धर्म महामण्डल की प्रेरणा और अनुमोदन से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की थी, जो प्रारम्भ में ही तत्कालीन शिक्षा सचिव बटलर और कांग्रेस के श्री जवाहरलाल नेहरू के दबाव से बाधित किया जाने लगा और मालवीय जी के जाने के बाद वहाँ धड़ल्ले से कम्युनिस्ट कुलपति होने लगे तथा वह हिन्दुत्व के प्रति असद् भाव पालने और बढ़ाने वाली शिक्षा का ही सघन क्षेत्र बनता चला गया, यद्यपि संस्कार रूप से वहाँ के छात्र और अनेक अध्यापक भी सनातन धर्म के प्रति श्रद्धावान हैं, परन्तु पाठ्यक्रमों में और वहाँ रची गयी शोध पुस्तकों तथा सन्दर्भ ग्रन्थों में इसके प्रमाण और साक्ष्य नहीं मिलते।

इसी प्रकार स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की, जहाँ वैदिक आदर्शों के अनुरूप ज्ञान के प्रत्येक अनुशासन में शिक्षा दी जानी थी। कुछ वर्षों तक वह क्रम चला और फिर वह प्रकाश धूमिल होता गया तथा यूरो-भारतीय सम्प्रदाय द्वारा प्रवर्तित शिक्षा का आतंककारी पांथिक अनुशासन वहाँ भी फैल गया।

आर्य समाज के अनेक गुरुकुलों में अवश्य भारतीय ज्ञान परम्परा की साधना चली और चल रही है, परन्तु वह सीमित है और सीमित विषयों तक केन्द्रित है। इसी

प्रकार भारत के प्रत्येक धार्मिक संस्थान में भारतीय ज्ञान परम्परा की साधना चल रही है, परन्तु समकालीन विश्व व्यवस्था एवं भारत में चलायी जा रही शिक्षा व्यवस्था तथा विधि व्यवस्था के असत्य पक्षों से वे बड़ी सीमा तक अनजान या उदासीन हैं, जिससे कि वहाँ भी अपरा विद्याओं में ज्ञान का अर्थ 20वीं शताब्दी ईस्वी के पूर्वार्द्ध में यूरोप में उभरा बालबुद्धि किस्म का सूचना संग्रह और तथ्य संग्रह ही है तथा उनका ही मिथ्या गरिमा मण्डन वहाँ भी छा रहा है। स्वतंत्र विद्या केन्द्रों का विश्वविद्यालय के समतुल्य विस्तार नहीं होने से वहाँ इन विद्याओं में गति मन्द है। यद्यपि फिर भी अगर कोई आशा है तो सनातन धर्म और आर्य समाज की इन्हीं विद्या परम्पराओं से है। काल प्रवाह वश वे आज पर्याप्त प्रभावी नहीं हैं, परन्तु कभी भी महाकाल की कृपा से वे पुनः शक्तिशाली हो सकती हैं और उनके सम्मिलित प्रयास से ही भारतीय राजनैतिक दर्शन का सन्निवेश सम्भव है।

वस्तुतः इन दिनों भारत में जो राजनीति के नाम पर काम हो रहे हैं, उनका कोई भी सम्बन्ध गहराई से किसी राजनैतिक दर्शन से नहीं है। किसी भी प्रमुख राजनैतिक दर्शन का उसके अनुयायियों की व्यावहारिक राजनीति से क्या सम्बन्ध है, इसे जानते तो व्यवहार में सभी हैं, परन्तु सैद्धान्तिक तथा वैचारिक स्तर पर इनका स्पष्ट निरूपण और विश्लेषण बहुत ही कम हुआ है। यहाँ केवल उनमें से कुछ महत्वपूर्ण पक्षों का संकेत ही सम्भव है।

इस्लाम, ईसाइयत और बौद्ध धर्म या सिक्ख पंथ से प्रेरित समूहों में धार्मिक और आध्यात्मिक मान्यताओं तथा विश्वासों की केन्द्रीय भूमिका भारत में भी है। इन पंथों के अनुयायी समूह अपनी आस्थाओं और तत्त्व ज्ञान के पोषण को राजनीति का सर्वाधिक उल्लेखनीय कार्य मानते हैं और उसे ही अपना समर्थन देते हैं, जो यह उल्लेखनीय कार्य करे।

परन्तु आधुनिक राजनैतिक परिवेश में भारत के हिन्दू अपने राजनेताओं से ठेकेदारों वाले काम की ही ज्यादा अपेक्षा रखते हैं—सड़क, अस्पताल, सिंचाई व्यवस्था, बिजली, पानी आदि की व्यवस्था, नये नये भोजन और मनोरंजन के संसाधन सुलभ कराना तथा दैहिक और मानसिक दक्षताओं के लिए आवश्यक हुनर को बढ़ावा देना—इनकी ही अपेक्षा और इनकी ही माँग नेताओं से हिन्दू समाज करता है। बहुत हुआ तो उसमें कुछ मन्दिर आदि के निर्माण में सहयोग की बात भी जुड़ जाती है, परन्तु विश्व की सबसे प्राचीन ज्ञान परम्परा के हम उत्तराधिकारी हैं और दर्शन, मनोविज्ञान, योग, अध्यात्म, अर्थशास्त्र, राजशास्त्र, व्यवहारशास्त्र, न्यायशास्त्र, वास्तुशास्त्र, स्थापत्य शास्त्र, यंत्र विद्या, भवन निर्माण, चिकित्सा, कलाएँ, साहित्य, नाट्य आदि क्षेत्रों में अद्वितीय विराट हमारी परम्परा और वैभव हैं, जिसका ज्ञान आज भी हमारे बच्चों को कराने का प्रबन्ध या तो राज्य के द्वारा होना चाहिए या हम ऐसा प्रबन्ध स्वयं करें, इसमें राज्य को बाधक नहीं बनना चाहिए, ऐसी कोई भी माँग हिन्दू समाज में प्रबलता से उठती देखी नहीं जाती।

ऐसा लगता है कि मानो हिन्दुओं को राजनेताओं से किसी भी प्रकार की आध्यात्मिक चेतना की अपेक्षा नहीं है। यह एक स्तर पर तो ठीक है परन्तु आध्यात्मिक चेतना को बाधित करने वाले प्रयास शिक्षा और संचार माध्यमों के जरिये राजनेता नहीं करें और नहीं कराएँ, इसकी चिन्ता भी मानो हिन्दू समाज नहीं कर रहा है। ऐसी स्थिति में जो राजनैतिक दर्शन आवश्यक है, वह इन उपेक्षित पक्षों पर ध्यान देने वाला अवश्य होना चाहिए।

सभी जानते हैं कि वर्तमान राजनैतिक दल और सारी ही प्रशासनिक व्यवस्था इतने बड़े पैमाने पर तस्करी, नशेबाजी, मद्यपान तथा अनेक बुराइयों को संरक्षण देने वाली हैं और प्रत्येक सार्वजनिक कार्य में धन का भयंकर घपला होता है। मोटे तौर पर ये ही राजनैतिक दलों के वित्तीय आधार बनते हैं, चमक दमक से भरी चुनावी राजनीति के लिए अपेक्षित खर्च इन स्रोतों से ही प्राप्त होता है। ऐसे में राजनैतिक दर्शन की जो बातें नेताओं और उनके समर्थकों द्वारा की जाती हैं, वे प्रायः इन सच्चाइयों को लोकमानस से ओझल रखने की युक्तियाँ मात्र बन जाती हैं। धीरे-धीरे राजनीति से जुड़े सभी समूह ज्ञान की दृष्टि से अतिशय विपन्न और अहंकार से अतिशय सम्पन्न बनते जा रहे हैं।

जरा याद कीजिए कि 'इतिहास चक्र' की या 'क्षण प्रवाह भी है और अनन्त भी' की बात करने वाला एक भी लोहियावादी आज कहीं हैं? और तो और, 'चले देश में देशी भाषा', 'रेल के डिब्बे एक समान', 'राजा जुलहा मंत्री पूत, साथ पढ़े सब होएँ सपूत' में सचमुच श्रद्धा रखने वाला एक भी लोहियावादी आज कहीं प्रमुख पदों पर है? और अगर कोई कहीं हुआ तो वह क्या आज एक अजूबा नहीं नजर आयेगा?

अमेरिकी किस्म के विकास के पीछे पागल मध्यवर्ग की अन्तहीन भौतिक लालसाओं को जगा और लुभा कर जिसे 'पॉलिटिक्स ऑफ ब्लैक पैशन' कहा जाता है, उसकी राजनीति करने का किसी भी भारतीय दर्शन से भला क्या सम्बन्ध हो सकता है?

इनमें से कोई भी बातें भारतीय राजनीतिज्ञों की विवशता नहीं हैं। इनमें से कुछ भी करने पर भारत के बहुसंख्यकों के उनके समर्थक वोट में कोई कमी नहीं आती और कोई बढ़ोत्तरी भी नहीं होती, फिर भी इन नितान्त अनावश्यक क्रियाओं को वे क्यों करते हैं? क्यों 1947 से 2002 ईस्वी तक सारे ही राजनेता भारत की मुख्य समस्या विकराल गरीबी बताते रहे और क्यों अचानक पिछले एक दशक से वे भारत के आर्थिक महाशक्ति के रूप में उभरने की बातें उत्साह से करने लगे हैं? इन दोनों बातों में किसी भी प्रकार की तार्किक संगति कैसे देखी जा सकती है? किसी भी राजनैतिक दर्शन के अनुसार ऐसी पलटियाँ मारना कैसे सही ठहराया जा सकता है? अतः स्पष्ट है कि चालू भारतीय राजनीति का किसी भी राजनैतिक दर्शन से कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है। वह एक दिखाऊ सम्बन्ध अवश्य है। तो क्या हम किसी

नये दिखाऊ सम्बन्ध पर चिन्तन करेंगे या अभी व्यवहार में सचमुच जो दर्शन चल रहा है, उसकी मीमांसा करेंगे।

वर्तमान व्यवस्था कैसे भारत पर लादी गयी है, इसे याद करने पर ही किसी भी नये राजनैतिक अभिक्रम की कोई सम्भावना बनती है। भारत से अंग्रेजी शासन की समाप्ति के लिए चले आन्दोलन का अध्ययन भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यद्यपि स्वाधीनता के बाद जिन लोगों को ब्रिटिश सत्ता का हस्तांतरण हुआ, उन्होंने अपनी ब्रिटिश शिक्षा के अनुरूप केवल अपने ही पक्ष का प्रचार किया और यह दिखलाया कि मानो केवल कांग्रेस के नेतृत्व में ही भारत को स्वाधीनता प्राप्त हुई है। परन्तु विश्व भर में जो कुछ प्रामाणिक इतिहास लिखा गया है, वहाँ सर्वत्र इस तथ्य का उल्लेख है कि भारत में ब्रिटिश सत्ता के हस्तांतरण का मुख्य कारण गाँधी जी के नेतृत्व में चला स्वाधीनता आन्दोलन नहीं, अपितु सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में चला आजाद हिन्द फौज का संगठित अभियान, उसके कारण भारतीय सेना में उपजा असन्तोष और नौसेना में उभरा असन्तोष एक बहुत बड़ा कारण है।

इसके साथ ही दूसरा बड़ा कारण प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध में भारतीय सैनिकों और भारतीय राजाओं पर ब्रिटेन की निर्भरता तथा उसके कारण ब्रिटेन द्वारा भारतीयों से किये गये वायदे को निभाने की विवशता है। क्योंकि इसके बाद भारत पर शासन कर पाना ब्रिटेन को असम्भव दिखने लगा था तथा स्वयं ब्रिटेन में अपने उपनिवेशों से मुक्ति का आग्रह प्रबल हो गया था। लेबर पार्टी की जीत ने इस विषय में ब्रिटेन को अन्तिम निर्णय देने की प्रेरणा दी। तथापि यह भी सर्वविदित और सर्वमान्य तथ्य है कि पहले लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, स्वामी श्रद्धानन्द, विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय, और फिर मोहनदास करमचन्द गाँधी तथा पंडित मदनमोहन मालवीय आदि के नेतृत्व में चले भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन ने भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन के पूरक पक्ष की भूमिका निभाई तथा इन दोनों ही धाराओं ने एक-दूसरे को भीतर से पुष्ट किया और इस प्रकार भारतवर्ष में राष्ट्रीय भावना की अद्भुत जागृति सम्भव हुई। 1905 ईस्वी के स्वदेशी आन्दोलन तथा बंगभंग के प्रचण्ड विरोध से प्रारम्भ इस शान्तिपूर्ण सत्याग्रह की धारा को स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, बंकिमचन्द्र चटर्जी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्रीअरविन्द, सुब्रह्मण्य भारती आदि के विराट आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक पुरुषार्थ ने पोषित किया था। जब यह धारा अपने शिखर को जा पहुँची, उसके समानान्तर अंग्रेजों ने मुस्लिम अलगाववाद का पोषण किया और मुस्लिम लीग बनाकर अलग मुस्लिम कौम की भावना भरी।

प्रथम महायुद्ध के बाद शान्तिपूर्ण राजनीति कर रहे शिक्षित लोगों को यह भलीभाँति स्पष्ट हो गया था कि देर-सबेर भारत को स्वशासन मिलना ही है। अतः वे उत्साह से शान्तिपूर्ण राजनीति करने लगे। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, मोतीलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल, जवाहरलाल नेहरू, मदनमोहन मालवीय आदि इस धारा के अग्रणी

नेता थे। गाँधी जी ने बाद में इसे सर्वाधिक व्यापक आधार दिया। इसके कारण सम्पूर्ण भारतीय समाज में प्रचण्ड राष्ट्रीय भावना जाग उठी। जगज्जननी दुर्गा माता के स्थान पर अथवा उसके सहवर्ती रूप में भारत माता की आराधना का जो स्वरूप भारतीय राष्ट्रीयता में उभरा, वैसा विश्व में और कहीं सम्भव नहीं हुआ है। भारत माता जगदम्बा का ही एक रूप हैं, यह यहाँ के सभी महापुरुषों को सदा ज्ञात रहा है। अतः इस आध्यात्मिक आधार से अभूतपूर्व राष्ट्रीय जागृति आई।

श्रीबंकिम, श्रीअरविन्द तथा स्वामी विवेकानन्द इस साधना परम्परा के शीर्ष साधक रहे हैं। गाँधी जी को सारा ही समर्थन और आधार इस साधना परम्परा के व्यापक प्रभाव के कारण ही मिला। इसीलिए गाँधी जी ने अपनी राजनीति की सदा ही आध्यात्मिक व्याख्याएँ की। यद्यपि वे मूलतः एक राजपुरुष थे। स्वामी विवेकानन्द या श्रीअरविन्द की तरह अथवा स्वामी दयानन्द की तरह मुख्यतः एक अध्यात्म साधक वे नहीं थे। अध्यात्म उनकी राजनीति का आधार था, या उपकरण, इस पर अभी यहाँ चर्चा नहीं हो रही है।

भारत से अंग्रेजों को जाने के लिए जिन प्रभावों तथा आन्दोलनों के कारण विवश होना पड़ा, उसमें कांग्रेसी शान्तिपूर्ण सत्याग्रह भी बहुत बड़ा कारण था। परन्तु महात्मा गाँधी ने जहाँ आन्दोलनात्मक और रचनात्मक कार्यक्रमों पर पूरा ध्यान दिया, वहीं सत्ता परिवर्तन की प्रक्रिया के स्वरूप एवं अर्थों के प्रति वे गहरे स्तर पर उदासीन रहे। परिणाम यह हुआ कि जहाँ शान्तिपूर्ण आन्दोलन की धारा में अन्तिम दौर में महात्मा गाँधी ही उसके शिखर पुरुष थे, वहाँ सत्ता का हस्तांतरण श्री जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कार्यरत समूह को हुआ और श्री नेहरू ने सार्वजनिक तौर पर गाँधी जी के रामराज्य, ग्राम स्वराज्य और हिन्द स्वराज के सभी लक्ष्यों से अपनी असहमति व्यक्त की। ग्रामोद्योग एवं कुटीर उद्योग को बीते जमाने की चीज माना और देश में इंग्लैण्ड तथा यूरोप के अनुकरण में केन्द्रीकृत तथा एकाधिकारवादी विकास की दिशा को ही उन्होंने भारत का लक्ष्य घोषित किया।

इस प्रकार विराट भारतीय समाज ने जिन आदर्शों के लिए गहरी देशभक्ति से भरकर स्वाधीनता संग्राम का समर्थन दिया, जेल गए, यातनाएँ सह्य, कांग्रेस के नेताओं को वोट दिया और सम्मान दिया, वे सभी आदर्श नेहरू ने चुटकी बजाकर हवा में उड़ा दिए।

इसलिए समझने की बात यह है कि लोकतंत्र का यूरोप में पिछले 200 वर्षों में पहली बार विकसित हुआ जो एक स्वरूप है, उसमें राजनैतिक दर्शन का व्यावहारिक राजनीति से एक विशेष सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध सहज और व्यापक नहीं है। यह असामान्य और स्पर्श मात्र करने वाला है। इसमें दर्शन का उपयोग वास्तविक राजनीति को ढँकने के लिए किया जाता है। जिस सोवियत संघ में श्रम की महत्ता और सबको भोजन तथा वस्त्र सुलभ कराने की महत्ता के दावे के साथ तथाकथित कम्युनिस्ट पार्टी

ने शासन हड़पा, उस पार्टी ने उस सोवियत संघ में मुफ्तखोर और अव्याश कम्युनिस्ट बॉसों तथा उनके चाटुकारों का वर्चस्व स्थापित किया और सारा ही ध्यान सैन्य शक्ति की ओर दिया तथा श्रमिकों के श्रम को दो कौड़ी का बना दिया और उन्हें भूखों मार डाला, उनके आश्रय छीन लिये और कपड़े भी दुर्लभ रहे आये। इस प्रकार वहाँ न तो श्रम का महत्त्व स्थापित हुआ, न साधारण लोगों को रोटी, कपड़ा और मकान मिला और न ही कम्युनिस्ट पार्टी के बड़े नेताओं ने तनिक-सा भी श्रम किया।

इसी प्रकार भारत में गरीबी हटाने के सारे ही नारे मंत्रियों और अफसरों द्वारा गरीबों से भी अधिक से अधिक टैक्स वसूली करते हुए और फिर उस टैक्स से संचित राजकोष में से दान और अनुदान की घोषणा करते हुए तथा व्यवहार में उसका एक बड़ा हिस्सा स्वयं सरकारी तंत्र द्वारा हड़पे जाने की व्यवस्था करते हुए राज चलाया गया। यदि गरीबी के तमाम शोर के बीच, परम्परागत संस्कारों और स्वाभिमान तथा परिश्रम के अपने स्वभाव के कारण भारतीयों ने सारे दमन के बीच कुछ शक्ति संचित की, तो अब भारत के आर्थिक महाशक्ति के रूप में उदय का श्रेय भी इसी सर्वसत्तावादी समाजवादी राजनीति को दिया जा रहा है, जिसने दुनिया में कहीं भी गरीबों का अथवा समाज का आज तक भला नहीं किया है।

वस्तुतः तत्त्व दर्शन और राजनैतिक दर्शन दोनों ही राष्ट्र और समाज की ज्ञान परम्परा का ही या तो स्वाभाविक या फिर विकृत अंग होते हैं। यह समझना कि वे सार्वभौम होते हैं और व्यक्तिगत रूप से कोई प्रतिभा उन सार्वभौम दर्शन रूपों को प्रस्तुत कर सकती है, आज तक कहीं भी प्रमाणित नहीं है। क्योंकि अभी तक तो कोई भी दर्शन ऐसा विकसित नहीं हुआ है, जो केवल गणितीय बीजसूत्रों के सहारे प्रस्तुत होता हो। भाषा में ही दर्शन प्रस्तुत होता है, प्रत्येक भाषा किसी न किसी ज्ञान परम्परा का अंग एवं अवयव होती है। अतः अपनी भाषा से परे तो उसका कोई अस्तित्व सम्भव नहीं होता और भाषा का अस्तित्व अपनी ज्ञान परम्परा से परे सम्भव नहीं होता। इसलिए किसी भी राजनैतिक दर्शन का सम्बन्ध किसी न किसी ज्ञान परम्परा से ही होता है। भारत में कुछ लोगों ने यूरोपीय ज्ञान परम्परा का एजेण्ट बनने के अपने कृत्य को छिपाने के लिए यूरोप की विगत 100 वर्षों में उभरी विचार परम्परा को सार्वभौम बताने और प्रचारित करने का कार्य किया है, जो कि झूठ से जुड़ा है, सत्य से नहीं। अतः कोई भी नया राजनैतिक दर्शन वस्तुतः भारतीय ज्ञान परम्परा के अंग के रूप में ही सम्भव है, अन्यथा वह निरर्थक वाग्जाल मात्र होगा।

परन्तु मूल प्रश्न अपनी जगह है कि राजनैतिक दर्शन में भारतीय दृष्टि के सन्निवेश की पहल करने वाला समूह कौन सा होगा और उसे लोक मान्यता मिलने की क्या सम्भावना है?

यहाँ यह राजनैतिक तथ्य सदा ध्यान में रखना चाहिए कि 1947 ईस्वी के बाद पूरे भारत में शिक्षा पर नास्तिक भौतिकतावादियों के बौद्धिक एकाधिकार और

नियंत्रण के कारण तथा हिन्दू धर्म के केन्द्रों को केवल उपासना के उपदेश तक सीमित रहने को विवश कर दिये जाने के कारण और उन्हें राष्ट्रीय जीवन के मुख्य क्षेत्रों से बाहर हाशिये पर डाल दिये जाने के कारण हिन्दू मतदाताओं का बहुलांश चुनाव में भौतिक लोभ और लालसाओं की प्रेरणा से ही वोट डालता है। दूसरी ओर यह सर्वविदित तथ्य है कि भारतीय जनता पार्टी ने आज तक भारतीय मुसलमानों या ईसाइयों का रंच मात्र अहित नहीं किया, तब भी मुस्लिम और ईसाई मतदाताओं का बड़ा हिस्सा मजहब और पंथ का विचार कर वोट भाजपा को नहीं देता।

इस प्रकार तथाकथित अल्पसंख्यकों के वोट मजहबी और आध्यात्मिक आधारों पर पड़ते हैं और हिन्दुओं के वोट लोभ और लालसाओं की प्रेरणा से पड़ते हैं। इसमें रामजन्म भूमि आन्दोलन एक अपवाद है, जिसमें हिन्दू समाज ने आध्यात्मिक प्रेरणा से भाग लिया, परन्तु भाजपा के नेताओं ने उसकी चरम परिणति से अपने को तोड़ लिया या अलग कर लिया। इस प्रकार वे शुद्ध भौतिकतावादी ही बने रहे।

हिन्दुओं की इस मनोदशा को समझकर ही श्री नरेन्द्र मोदी ने, जिनमें हिन्दुत्व के संस्कार तो रहे ही हैं, आम चुनावों में केवल विकास की बात की। जाहिर है कि मोदी जी को वोट विकास के लोभ से और सम्भवतः काले धन को विदेश से लाकर भारतीयों को सम्पन्न बना देने या करदाताओं का कर का बोझ घटा देने के लालच से मिला है। सभी जानते हैं कि भारतीय राजनीति की जो दशा है और श्री नरेन्द्र मोदी का जैसा कुशल व्यक्तित्व है तथा उनके विरोधियों का जैसा हल्कापन है, उसके कारण अगले 10 या 15 वर्षों तक भारतीय राजनीति के शिखर पुरुष श्री नरेन्द्र मोदी ही रहेंगे और वे किसी भी प्रकार राजनैतिक विमर्श में भारतीय दृष्टि का सन्निवेश नहीं करेंगे तथा नहीं होने देंगे। क्योंकि न तो उनकी ऐसी कोई शिक्षा-दीक्षा या प्रशिक्षण है, न उनके आसपास के लोगों में ऐसी चेतना और संकल्प शक्ति दिखती है। नास्तिक भौतिकतावादियों के बौद्धिक आतंक से दबे हैं मोदी जी के समर्थक समूह।

इतना अवश्य है कि मोदी जी भारत से हिन्दू धर्म के क्रमशः विलोप की कतिपय कांग्रेसी और कम्युनिस्ट तथा अन्य समूहों की भयंकर योजनाओं से पूरी तरह अलग रहेंगे और उन पर कुछ नियंत्रण भी कसेंगे। हिन्दू समाज को अभी इतने से ही सन्तोष करना होगा।

अतः राजनैतिक विमर्श में भारतीय दृष्टि के सन्निवेश के लिए हिन्दुओं को अपने सशक्त विद्या केन्द्र रचने होंगे, जहाँ परा विद्या के साथ ही अपरा विद्या की भी भारतीय ज्ञान परम्पराओं का गहरा अध्ययन और प्रशिक्षण हो और राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा धर्म चिन्तन सहित राष्ट्र जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समकालीन सन्दर्भों में भारतीय दृष्टि की अभिव्यक्ति पर विस्तृत चिन्तन और लेखन तथा प्रचार का व्यापक काम हो सके। इसके बाद ही सम्भवतः 10 या 15 वर्षों तक निरन्तर पुरुषार्थ एवं तप करने के उपरान्त राजनैतिक विमर्श में भारतीय दृष्टि का समावेश सम्भव होगा, ऐसी मेरी बुद्धि है।

पार्टी और विचारधारा

शंकर शरण*

विचारधारा—यह वह चीज है जो बुरे काम के लिए लम्बे समय से खोजा जाता रहा औचित्य और बुरे काम करने वाले को जरूरी सामर्थ्य और दृढ़ता प्रदान करती है। यह वह सामाजिक सिद्धान्त है जो उसके काम को अपनी और दूसरे की दृष्टि में बुरे के बजाय अच्छे दिखने में मदद करती है, ताकि उसे शिकायत और शाप सुनने की बजाय प्रशंसा और सम्मान मिले।

सोल्डेनित्सिन, गुलाग आर्किपेलाग, 1/4

विचारधारा के नाम पर आम आदमी पार्टी या अरविन्द केजरीवाल की छीछालेदार दो कारणों से ठीक नहीं लगती। एक तो इसलिए क्योंकि आम आदमी पार्टी किसी विचारधारा के नाम पर नहीं बनी थी। वह नए प्रकार की शैली और जमीनी एक्टिविज्म के नाम पर बनी थी। उसमें शुरू से ही कई तरह के विचारों वाले लोग रहे हैं।

हाँ, यह जरूर है कि उसमें ऐसे लोग प्रमुख रहे हैं जो विचारधारा वाले हैं। जैसे, योगेन्द्र यादव, प्रशान्त भूषण, एडमिरल रामदास आदि। इन लोगों की विचारधारा को आम आदमी की विचारधारा मान कर चलना ठीक नहीं, क्योंकि इस पार्टी ने ऐसी कोई घोषणाएँ नहीं की हैं।

किन्तु सबसे महत्वपूर्ण कुछ और है, जिस पर अधिक गम्भीरता से विचार करना चाहिए। वह यह कि विचारधारा केन्द्रित राजनीति अपने-आप में कोई अच्छी चीज नहीं। उलटे, पूरी दुनिया का अनुभव है कि ऐसी राजनीति आम तौर पर हानिकारक, संकीर्ण, जिद्दी, अन्यायी और तानाशाही होती रही है। अभी ताजा उदाहरण आईसिस (इस्लामिक स्टेट ऑफ सीरिया एंड इराक) है।

जिन्हें भ्रम हो कि सीरिया, इराक या नाइजीरिया में कहर बरपाने वाला आईसिस या बोको हराम किन्हीं पागलों, सिरफिरों का कारनामा है, वे हाल में

* संपर्क : 4/44, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, अरविन्दो मार्ग, नई दिल्ली-110016

प्रकाशित येल विश्वविद्यालय के प्रो. ग्रेडम वुड का विस्तृत शोध-पत्र 'हाट आईसिस रियली वांट्स' (द अटलांटिक, मार्च 2015) अवश्य पढ़ लें। वे जानकर चकित होंगे कि सैकड़ों निरीह लोगों का सिर कलम करने वाले आईसिस नेता बड़े संजीदे, आदर्शवादी और इस्लाम के गम्भीर जानकार हैं। वे वस्तुतः एक विचारधारा की राजनीति ही निष्ठापूर्वक कर रहे हैं।

विचारधारा का मोल दो कौड़ी

इसलिए, यह बहुत बड़ा भ्रम है कि विचारधारा कोई अच्छी चीज है। सच तो यह है कि विचारधारा अपनी परिभाषा से ही एक बँधी हुई चीज है, जो अपनी कुछ मान्यताओं को ऐसी पवित्र बुनियाद मान बैठती है कि फिर इसके प्रतिकूल पड़ने वाली हर सच्चाई को ठुकराना उसकी लाचारी बन जाती है। शब्द सच्चाई पर ध्यान दें। सच्चाई और विचारधारा दो प्रवर्ग हैं। दोनों पर्यायवाची नहीं हैं। अर्थात्, किन्हीं बिन्दुओं पर सच्चाई और विचारधारा विपरीत हो सकती है। उसी प्रकार, नैतिकता और विचारधारा भी पर्याय नहीं हैं। इसीलिए कोई भी विचारधारा सच्चाई और नैतिकता की समय-समय पर उपेक्षा करती रह सकती है। विचारधारा ग्रस्त आदमी सच्चाई या नैतिकता को छोटी चीज मानकर अपनी विचारधारा पकड़े रहता है। यही सारी आफत की जड़ हो जाती है। आईसिस मूलतः वैसी ही मानसिकता से ग्रस्त है जिससे माओ और स्तालिन भी ग्रस्त थे। सच्चाई और नैतिकता के बदले अपनी विचारधारा को सर्वोच्च मार्गदर्शक मानना। आईसिस इस्लाम को मानता है, स्तालिन लेनिनवाद को मानता था।

इस प्रकार, विचारधारा एक बेड़ी है। विचार स्वतन्त्र हो सकते हैं, उन्मुक्त हो सकते हैं। किन्तु जैसे ही कुछ विशिष्ट विचारों को जोड़कर एक विचारधारा बना ली जाये, वैसे ही यह स्वतः बँध जाती है। यही विचारधारा ग्रस्त लोगों को संकीर्ण, कट्टर, मतिहीन, यहाँ तक कि हिंसक भी बनाने लगती है। ऐसे लोगों में महात्मा गाँधी को भी गिना जा सकता है। जिन्होंने अहिंसा को अपनी विचारधारा बनाकर भयंकर नरसंहारों को चुपचाप स्वीकार कर लिया, और पीड़ितों को उपदेश दिया कि वे 'अहिंसा के पुजारी' बनकर मारे जायें। इसे समझने की कोशिश करें, कि यह विचारधारा की कैद के कारण हुआ। विचारधारा की बेड़ी से मुक्त नेता यही कहता कि अपनी रक्षा के लिए हथियार उठाओ, और आक्रमणकारियों को मार डालो। मगर गाँधी जी ऐसा कह ही नहीं सकते थे। क्योंकि वे अपनी अहिंसा विचारधारा के बन्दी हो गये थे।

बात यह है कि विचारधारा ग्रस्त लोगों की दृष्टि संकीर्ण हो जाती है। आम आदमी पार्टी में भी यादव, भूषण और रामदास ऐसे ही लोग हैं। वे सारी तिकड़में सदैव किसी स्वार्थवश नहीं करते। बल्कि इसलिए भी करते हैं कि उन्हें लगता है कि उनकी

विचारधारा की यह माँग है। उदाहरणार्थ, यादव और भूषण कश्मीर में भारतीय सेना को 'अकूपेशन आर्मी' (विदेशी अतिक्रमणकारी) मानते हैं। यह विचारधारा-ग्रस्तता है, जो सच्चाई नहीं झेल सकती। क्योंकि उस तर्क से हैदराबाद, पटियाला, जूनागढ़, त्रावणकोर, भोपाल, ग्वालियर आदि जगहों पर भी भारतीय सेना विदेशी कहलायेगी। क्योंकि जिस नियम, पद्धति से जम्मू-कश्मीर भारतीय संघ में सम्मिलित हुआ था, ठीक उसी से सभी भारतीय राज्य-रजवाड़े हुए थे। अतः यदि यादव, भूषण के लिए कश्मीर में भारतीय सेना 'बाहरी कब्जावर' है, तो वह लगभग सभी प्रान्तों में भी वही है।

फिर दूसरी समस्या उठती है। इस 'भारतीय' सेना के सैनिक, संचालक और आदेशकर्ता किस देश के हैं—तब 'भारत' का ही कोई अर्थ समझ में नहीं आयेगा। सभी प्रान्तों के लोग भारतीय सेना के संचालक, कमांडर और राज्य नीति तय करते रहे हैं। भारतीय राज्यतन्त्र में कश्मीरी भी गृहमंत्री, विदेश मन्त्री आदि महत्वपूर्ण पदों पर रहे हैं। लेकिन विचारधारा-ग्रस्त, विशेषकर वामपन्थी लोगों को यह सब सोचने-विचारने की जरूरत नहीं होती। उन्हें अपनी झक का ऐसा अहंकार रहता है कि वे उसे रटते रहने में ही सन्तुष्ट रहते हैं।

इसीलिए किसी पार्टी में विचारधारा का होना उसकी दुर्बलता है, योग्यता नहीं। लोकतन्त्र में अधिक अच्छी पार्टी वह है जो सच्चाई, नैतिकता और देशहित को आधार बनाए। तदनुरूप योग्य लोगों और नीतियों को बढ़ावा दे। तभी उस में लचीलापन, खुलापन और उदारता रहती है। विचारधारा आधारित पार्टियाँ इसके उलट प्रायः अनम्य, जिद्दी और संकीर्ण होती जाती हैं।

वामपन्थी पार्टियाँ और बुद्धिजीवी इसके प्रतिनिधि उदाहरण हैं। स्वभाव से ही सच्चाई और नैतिकता को पीछे, और अपने बने-बनाये निष्कर्षों को आगे रखते हैं। 'वर्गीय' राजनीति उनकी बुनियादी मानसिकता है। उनमें 'हम' और 'वे', 'जनवादी' और 'प्रतिक्रियावादी', 'सेक्यूलर' और 'साम्प्रदायिक', आदि प्रवर्गों में कुछ भी देखने की आदत होती है। इसीलिए कोई सत्यनिष्ठ, परिश्रमी, न्यायपूर्ण नेता भी उनके लिए घृणित है, यदि वह भाजपा या शिवसेना में है। उसी तरह, अय्याश, भ्रष्ट, निकम्मा भी उनका मित्र या सहयोगी हो सकता है यदि वह गैर-भाजपा, गैर-काँग्रेसी है। मित्र और शत्रु का ऐसा चयन विचारधारा की बीमारी है, जो किसी मामले को ठोस तथ्यों और न्याय पर नहीं, बल्कि किसी विचारधारा पर तोलती है। इस तरह, विचारशीलता और विचारधारा प्रायः एक-दूसरे के विरुद्ध जा पड़ती है।

योगेन्द्र यादव द्वारा तैयार करवाई गयी स्कूली पाठ्य-पुस्तकों में भी विचारधारा के कारण हुई घोर हानि देखी जा सकती है। अपने कारनामों पर वे दंभपूर्वक लिखते हैं, "हमने तय किया कि हमें इससे कोई मतलब नहीं है कि राजनीति विज्ञान क्या है, अर्थशास्त्र क्या है और समाजशास्त्र क्या है। हमें लगता है कि बच्चा अपने इर्द-गिर्द परिवेश के बारे में जानना चाहता है और उसे जानने दिया जाये।" इन शब्दों का

भोलापन या मूढ़ता देखने लायक है। आखिर, किसी बच्चे को 'अपना इर्द-गिर्द परिवेश' जानने के लिए पाठ्य-पुस्तक की आवश्यकता ही क्या है! अपने मुहल्ले, गाँव, कस्बे को तो हर बच्चा चप्पा-चप्पा, राई-रत्ती स्वयं जानता है। फिर, मुम्बई की चाल, शिलांग के पहाड़, भुवनेश्वर के समुद्र तट और ल्यूटन की दिल्ली, आदि विभिन्न 'परिवेश' को जानने के लिए एक नहीं, पचास किस्म की अलग-अलग पुस्तकें देनी होंगी। कैसा विचित्र अहंकार है कि अनगिन विभिन्न परिवेशों के बच्चों को एक ही किताब देकर समझ लिया जाये कि उन्हें अपना 'इर्द-गिर्द' जानने में मदद की जा रही है!

मगर विचारधारा-ग्रस्त लोगों की यही सिफत होती है। वे अपने अनुमान, घोषणाओं, आदि को निरन्तर दुहराते हुए स्वयं अपना अन्धविश्वास सच मानने लगते हैं। सोवियत संघ का सम्पूर्ण अकादमिक, राजनीतिक वर्ग तीन पीढ़ियों तक इसी रोग से ग्रस्त रहा। हमारे देश के मतवादी कुछ यही दिखाते हैं। उनकी किसी मान्यता पर प्रश्न उठाते ही उनके माथे पर बल पड़ जाते हैं, कि पूछने वाला जरूर साम्प्रदायिक या किसी का एजेंट है! मानो किसी बड़े पदधारी लेखक-प्रचारक से किसी मान्यता का प्रमाण माँगना उसकी तौहीन करना है।

विचारधारा की मारी हुई सबसे अभागी पार्टियाँ भारत की कम्युनिस्ट पार्टियाँ हैं। वे समय-समय पर वैचारिक मन्थन करती हैं। इस पर नहीं कि क्यों उसका नाम—लोप होता जा रहा है, बल्कि इस बात पर कि शत्रुओं को हराने के लिए क्या किया जाय? यानी, अपनी विचारधारा में वे सही थीं और हैं, समस्या केवल उन्हें लागू करने की है। विचारधारा किस तरह विचारहीनता थोप देती है, यह उसी का उदाहरण है। रूस और चीन द्वारा दशकों मार्क्सवाद-लेनिनवाद को अपना कर, व्यवहार में उसे निष्फल, हानिकारक पाकर तौबा करने के बाद भी भारतीय कम्युनिस्ट उसी से चिपटे हैं। यही है विचारधारा-ग्रस्तता, जो सच्चाई को कोई महत्त्व नहीं देती। सभी कम्युनिस्टों, वामपंथियों के विमर्श में यही समस्या है।

विचारधारा या सच्चाई

प्रश्न है: क्या विचारधारा सच्चाई से ऊँची चीज है—या कि वामपन्थी बन्धु सच्चाई का सामना करने की ताब नहीं रखते? सभी वामपन्थियों को अपना हृदय टटोलकर देखना चाहिए। उत्तर अलग-अलग कामरेडों, प्रगतिशीलों, सेक्यूलरों के लिए अलग-अलग होंगे, किन्तु यह तय है कि जब तक इस बुनियादी प्रश्न का बेलाग सामना नहीं किया जाता, यहाँ के सारे वामपन्थी मतवादी नेता, बुद्धिजीवी उसी तरह भटकते-भटकते लुप्त हो जायेंगे, जैसे कई देशों में हो चुके।

हैरत कि दशकों तक रूस और चीन से 'सीखने' की आदत रखने वाले कम्युनिस्ट अब उनसे सीखने से कतराते हैं! रूसी गोर्बाचोव-येल्तसिन हों या चीनी

देंग-फेंग, सबने झक मारकर यही पाया कि सच्चाई की ताकत विचारधारा से बहुत अधिक है। सोल्झेनित्सिन जैसा महान लेखक ने अपने अनुभवों से लिखा था, "सच्चाई का एक शब्द पूरी दुनिया पर भारी पड़ता है।"

अन्ततः रूसी-चीनी कम्युनिस्ट इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यदि मार्क्सवाद-लेनिनवाद, लेनिनवाद-माओवाद विचारधाराएँ निष्फल हुईं, तो इसे स्वीकार करो। तभी रूस और चीन की नीतियों में बुनियादी परिवर्तन आरम्भ हुआ। परिणामतः कम्युनिस्ट पार्टी और/या विचारधारा तो जाती रही, मगर वे कम्युनिस्ट जिन्होंने सच्चाई स्वीकार की, वे नए रूप में प्रासंगिक बने रहे। देंग या पुतिन इसके उदाहरण हैं।

यहाँ भी कम्युनिस्टों को तय करना होगा कि यदि उन्हें अपने को प्रासंगिक रखना है, तो सच्चाई का अवलम्ब लें। शोषित, दुर्बल, धनहीन की सेवा करने के लिए कम्युनिस्ट विचारधारा अनिवार्य नहीं, यह साधारण सच्चाई सामने रख वे अब भी सम्मानजनक राजनीति कर सकते हैं।

किन्तु यदि किसी विचारधारा को पूजते रहना हो, तो इसमें वे भी खत्म हो जायेंगे, पार्टी व विचारधारा तो जायेगी ही। जबकि सच्चाई को आधार बनाकर वे अपने को अब भी देश-समाज का सेवक बना सकते हैं। दक्षिण अफ्रीका में मोहनदास गाँधी का जीवन इसका उदाहरण है। अन्य भी अनगिन उदाहरण मिलेंगे कि दुर्बलों, असहायों की सच्ची सेवा करने के लिए किसी विचारधारा की झूठी-सच्ची जरूरत नहीं होती।

पर क्या कम्युनिस्टों, सोशलिस्टों की शोषित-सेवा नहीं, बल्कि सत्ता पाने की फिक्क है? हो सकता है आम आदमी पार्टी में भी ऐसे नेता हों। अर्थात्, सेवा के माध्यम या बहाने से उन्हें सत्ता पाने, हथियाने का कोई मार्ग ढूँढ़ना है। तभी तो राजनीति और राजनीतिक दल; नहीं तो पार्टी बनाने की क्या जरूरत! गाँधी जी ने अफ्रीका में या अन्ना हजारे और बाबा रामदेव ने यहाँ जनता की जो भी सेवा की, उसके लिए उन्हें राजनीतिक दल बनाने की तो जरूरत नहीं पड़ी थी।

अतः जैसे देखें, यहाँ कम्युनिस्टों की मुख्य समस्या सच्चाई से बचना या सच्चाई को अपनाना है। विचारधारा की अन्धपूजा ही उन्हें विवश करती है कि वे तोतारटन्त की तरह सदैव कारपोरेट उद्योगपतियों और भाजपा को दुश्मन, दानव कहते रहें। पर सच्चाई साफ दिखाती है कि भारतीय कारपोरेट उसी तरह अपनी जनता के अंग हैं, जैसे फोर्ड और बिल गेट्स अमेरिकी जनता के अंग हैं। उल्टे इन्होंने अपने-अपने देशों की बहुमूल्य सेवा ही की है।

उसी तरह, किसी को सांप्रदायिक, फासिस्ट आदि घोषित करने का आधार क्या है? विचारधारा के नाम पर ही मनमानापन चलता है कि किसी दल विशेष को घृणित विशेषणों से लेप दिया जाये। किन्तु सच्चाई की कसौटी पर किसी के कार्यों, विचारों, घटनाओं के ठोस और प्रामाणिक आँकड़े ही आधार बनेंगे। तब फासिस्ट, मानवता के

शत्रु, आदि कहलाने में लश्करे तोयबा, सिमी, इंडियन मुजाहिदीन से लेकर अल कायदा, इस्लामी स्टेट आदि कितने ही अव्वल नम्बर साबित होंगे। इन सबने दशकों से भारत में जो किया और करने का खुला इरादा रखा है, उसे छिपाना सम्भव नहीं रह जायेगा।

अतः हरेक बिन्दु पर वामपन्थियों का मूल दिग्भ्रम विचारधारा बनाम सच्चाई का है। दशकों के और विश्वव्यापी अनुभव से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए था कि स्थितियों, समस्याओं को केवल अच्छे, बुरे नए नाम दे देने से कुछ नहीं बदलता। हम स्वयं को ही छलते हैं।

मनीषियों ने समझाया है कि दुनिया आज भी उन्हीं पुराने अज्ञान, लोभ, ईर्ष्या, कामना, अहंकार आदि से विभाजित-विखंडित हो रही है। उसे वर्ग-संघर्ष, नस्लवाद, आत्मनिर्णय, मानवाधिकार, जैसी फैशनेबल संज्ञाएँ ओढ़ा देने से कुछ उपलब्ध नहीं हुआ। सच्चाई से इन्कार की प्रवृत्ति को विचारधारा की जिद में बदलकर सिद्धान्त निष्ठा सा महिमाडित कर लिया गया। पर यह अंतहीन छल-प्रपंच में बदलता जाता है। केवल प्रचार, दुहराव से बुद्धि को अवसन्न कर ठोंक-पीट कर सही को गलत और गलत को सही दिखाने की कोशिश करता है। कोई भोला-भाला अनुयायी या अन्धविश्वासी कार्यकर्ता बरस-दर-बरस उसे मानता चलता है। पर सच्चाई की दुर्निवार शक्ति उसे समय के साथ वस्तुस्थिति से अवगत करा देती है। तब वह उदासीन या मुक्त हो जाता है।

सारी दुनिया में कम्युनिस्ट पार्टियों के अवसान की यही संक्षिप्त कथा है। लेनिन-स्तालिन-माओ की जड़ भक्ति से यह सच ओझल नहीं हो सकता कि अच्छाई, न्याय और उपलब्धि की धारणाएँ विचारधाराओं पर निर्भर नहीं। इसलिए लाख दलीलें दें, यह शीशे की तरह साफ हो चुका कि मार्क्सवादी तजवीजों में रूस, चीन या बंगाल को खुशहाल बनाने की सामर्थ्य नहीं थी। उनमें अत्यधिक नकारवाद और असहिष्णुता है। रचनात्मकता का घोर अभाव भी। अन्यथा तीन दशक के सुदृढ़ शासन और बहुमूल्य संसाधनों के साथ पश्चिम बंगाल को अग्रणी राज्य बनाया ही जा सकता था! उसमें विफलता, किसी नेता या इस, उस गुट की नहीं, बल्कि उस विचारधारा की है जिसने माकपाइयों में घृणा, हिंसा, नकार, मिथ्याचार और अहंकार भर दिया।

उसी ने माकपा कार्यकर्ताओं को सिखाया कि जनहित से पार्टी-हित ऊपर है। उस विचारधारा ने यह विचित्र बात भी सिखायी कि उद्योगपतियों से घृणा करो, उन्हें सताओ, मिटाओ। उन्हें खत्म करके ही नया, प्रगतिशील समाज बनना आरम्भ होगा। मनमानी तोड़-फोड़ और हिंसा के पक्ष में यही तर्क कभी युवा ज्योति बसु ने बंगाल के राज्यपाल धर्मवीर को दिया था। अब चार-पाँच दशक के अनुभव के बाद तो यह देख सकना चाहिए कि वह विचारधारात्मक अन्धविश्वास था जिसने बंगाल की दुर्गति की। वही दुर्गति पूरे देश की नहीं हुई, इसके लिए उस जनता को ही श्रेय है जिसने कांग्रेस

और भाजपा को अधिक ठीक समझा। यहाँ अनपढ़ जनता की तुलना में वामपन्थी बुद्धिजीवी अधिक मूढ़ साबित हुए हैं।

दरअसल, यह सब कोई अन्तर्दृष्टि पाने की समस्या नहीं जिससे उन्हें कठिनाई हो रही है। बल्कि जानने की इच्छा की कमी है। अन्यथा वे बखूबी समझ सकते हैं कि टाटा, बिड़ला, अम्बानी या अमेरिका को दिन-रात कोसने से लोग कायल क्यों नहीं होते? बात वही, सच्चाई की कसौटी पर आती है। इसी पर लोग देर-सवेर वास्तविक लाभ-हानि पहचानते हैं। अथवा कभी-कभी किसी अधिक बुरे की तुलना में कम अच्छे को अवसर देते हैं। यह लोकतान्त्रिक राजनीति की सहज प्रक्रिया है, जिसमें भाग लेते हुए भी कम्युनिस्ट इसे स्वीकार नहीं कर पाए। उनकी विचारधारा उन्हें इस लोकतन्त्र को ही बुरा-भला कहना और पार्टी तानाशाही को उपयुक्त समझना सिखाती रही है। वे देखकर भी नहीं देखना चाहते कि युग पलट चुका है। तानाशाहियाँ एक-एक कर धराशायी हो चुकीं। कौन जाने, हर कहीं इस्लामी संगठनों, नेताओं की अतिशय हिंसा, उग्रता भी बुझने से पहले भभकने जैसा संकेत ही हो!

कवि अज्ञेय ने लिखा था: “हठ—लक्ष्य से चिपटने की, या कि रास्ते से? / कोई भी मार्ग छोड़ा जा सकता है, बदला जा सकता है: पथ-भ्रष्ट होना कुछ नहीं होता अगर लक्ष्य-भ्रष्ट न हुए।” अभी समय है कि भारतीय कम्युनिस्ट अपने को देश और समाज के लिए उपयोगी बना सकें। सच्चाई की कीमत पर विचारधारा का हठ छोड़कर ही यह सम्भव है।

पार्टी संगठन कैसा हो

जहाँ तक पार्टी संगठनों के आन्तरिक लोकतन्त्र का मुद्दा है, उसमें लोकतन्त्र के अर्थ के प्रति भ्रम झलकता है। लोकतन्त्र केवल यही नहीं कि हर चीज किसी समिति या किसी बहुमत से तय की जाये। नहीं तो क्या अमेरिकी राष्ट्रपति कोई तानाशाह है? वह तो सारे निर्णय स्वयं लेता है। किसी से पूछने की उसे अनिवार्यता नहीं। अपने सलाहकार वह स्वयं तय करता है या हटाता है। लेकिन उसे पूर्ण अधिकार देते हुए भी देश के संविधान, न्यायपालिका, प्रेस स्वतन्त्रता पर कोई आँच नहीं आती। फिर उसे निश्चित अवधि का कार्यकाल मिलता है। यह भी लोकतन्त्र है।

इसीलिए अरविन्द केजरीवाल की आलोचना सही नहीं है। उन्होंने लोगों का विश्वास जीता है, किसी और ने नहीं। अतः उन्हें अपने सहयोगी को रखने, हटाने का पूरा अधिकार अपने हाथ रखने में कोई तानाशाही या गलती नहीं मानी जा सकती। योगेन्द्र यादव या प्रशान्त भूषण को कुछ करके दिखाना अभी शेष है।

समस्या यह भी है कि अधिकांश राजनीतिक दलों के सांगठनिक नियम प्रायः पाखंडी हैं। इनके लिखित संविधान, तदनु रूप ‘पार्टी समिति’ के कार्य-अधिकार एक चीज हैं, वास्तविकता कुछ अलग। सभी पार्टियाँ वस्तुतः अध्यक्षीय रूप से चलती हैं।

किंतु कागज पर अधिकांश ने तरह-तरह की सामूहिक व्यवस्था बना रखी है। सब जानते हैं कि पार्टी के गम्भीर निर्णय सोनिया जी या अमित जी, मुलायम जी, लालू जी, अरविन्द जी आदि करेंगे। लेकिन दिखावा रहता है कि पार्टी के 'संसदीय बोर्ड' या 'कार्यकारिणी', 'चुनाव समिति' आदि ने वह किया।

यह पाखंड उस समस्या की जड़ में है, जिससे आम आदमी पार्टी अभी जूझ रही है। हर चीज समिति से तय होना जरूरी नहीं। एक बार समिति द्वारा किसी को चार साल या पाँच साल के लिए सर्वोच्च पद पर नियुक्त करना, फिर उसे निर्बाध अधिकार देना भी लोकतान्त्रिक ही है। बल्कि उससे कई लाभ भी होते हैं।

प्रथम, निर्णय लेने वाले को उत्तरदायी होना पड़ता है। वह हानिकारक निर्णय लेकर भी जबाबदेही से बच नहीं सकता। दूसरे, इस पद्धति से निर्णय में समुचित सोच विचार जरूरी हो जाता है। क्योंकि किसी की जिम्मेदारी तय रहती है। तीसरे, नेतृत्व-चयन का मान्य पैमाना रहता है।

लेकिन ऐसे खुले, व्यक्ति केन्द्रित, उत्तरदायी संगठन व्यवस्था के बदले नकली समिति व्यवस्था पाखंड, भ्रम और उत्तरदायित्वहीनता को बढ़ावा देती है। आखिर दिल्ली विधान सभा चुनाव में भाजपा का मुख्यमन्त्री उम्मीदवार किसने तय किया? दिल्ली प्रदेश काँग्रेस अध्यक्ष की नियुक्ति किस आधार पर हुई? इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है। क्योंकि सांगठनिक नियम हाथी के दाँत की तरह खाने के और दिखाने के और हैं।

यही हमारे राजनीतिक दलों की सांगठनिक समस्या की जड़ है। पार्टी में प्रतिद्वन्द्वी नेताओं के दिल जलते रहते हैं। वे आपस में तने रहते हैं। क्योंकि कोई कसौटी नहीं जिससे तय हो कि कौन किस पद का अधिकारी है अथवा नहीं है। इन में ऐसे भी हैं जो वास्तव में पार्टी या देश के लिए कुछ करना चाहते हैं किन्तु दोषपूर्ण सांगठनिक पद्धति उन्हें सही स्थान नहीं लेने देती। इस के विपरीत, कई चुके हुए नेता जिनमें उतनी योग्यता या हौसला नहीं, इस या उस पद को घेरे रहते हैं। क्योंकि उन पर अदृश्य वरदहस्त है।

सामूहिकतावादी पाखंड से सबसे बड़ी हानि यह होती है कि पार्टी में नए, योग्य और आदर्शवादी व्यक्तियों के आगे आने की गुंजाइश घट जाती है जो कोई सही योजना बना और लागू कर देश की कुछ सेवा कर सकते थे। क्योंकि जिन स्थानों पर किसी कर्मठ को होना चाहिए, वहाँ अयोग्य या चापलूस जमे रहते हैं। अथवा वैसे जरदगव जिनका सक्रिय काल बीत चुका। पर उन्हें 'पिछले' कामों के ईनाम स्वरूप जीवन-पर्यन्त किसी पद, राज्यसभा या राजभवन में रखा जाता है।

दर्जनों ऐसे सांसद रहे हैं, जो चल-फिर या सोच-विचार तक करने की स्थिति में नहीं थे। टीवी पर उन्हें देखकर करुणा उपजती थी। फिर भी वे रियायत नहीं होते! यह देश के संसाधनों की बर्बादी ही नहीं, योग्य लोगों को राष्ट्रीय काम से बाहर रख कर अधिक बड़ी हानि करना है। क्या देश की सर्वोच्च संस्थाओं—संसद, विधान सभा का काम इतना उपेक्षणीय है कि वहाँ जिस किसी बीमार या चापलूस को भेज दिया

जाये? यह बन्द होना चाहिए। जहाँ पहुँचकर कोई मेधावी, लगनशील और सक्रिय व्यक्ति देश का भला कर सकता है, वहाँ व्यर्थ, लाचार या मतलबियों को नियुक्त करना पाप है।

चुके लोगों को पिछली सेवाओं का ईनाम किसी और तरह दिया जाना चाहिए। जिम्मेदारी के पदों को पुरस्कार मात्र समझने की प्रथा अविलम्ब समाप्त होनी चाहिए। इसी से हर तरह की राजनीतिक बीमारियाँ फैली हैं। हर तरह के अयोग्य, गंदे लोग संसद से लेकर सरकार के सबसे महत्वपूर्ण पदों की ओर आँख लगाये बैठे रहते हैं। क्योंकि गाँधी-नेहरू परम्परा ने पदों के अधिकारी होने का आधार योग्यता नहीं, वफादारी या चापलूसी मात्र बना दिया है। यह रोग सभी राजनीतिक दलों में घर कर गया है।

सभी दलों के बड़े नेता ऐसे 'वफादारों' को ही प्रश्रय देते हैं, जो सदैव योग्य नहीं होते। मगर इसकी व्यवस्था कर लेते हैं कि महत्वपूर्ण पार्टी समितियों में बने रहें और नेता के हाथ मजबूत करें। ये समितियाँ नेता को मजबूत तो करती हैं, किन्तु उसे अपने कामों और निर्णयों के लिए उत्तरदायी नहीं बनाती।

यदि पार्टियों और सरकार में भी खुली अध्यक्षीय प्रणाली अपना ली जाये तो उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के लिए अच्छा रहेगा। तब सर्वोच्च से लेकर हर कार्य का जिम्मेदार कोई व्यक्ति विशेष होगा। तब जो व्यक्ति निर्णय करेगा, उसके परिणामों का उसे ही पुरस्कार या दंड मिलेगा। वैसी अवस्था में अध्यक्ष को सोच-समझकर अपने सहयोगी चुनने होंगे, क्योंकि तब सहयोगी के कार्य की जिम्मेदारी भी अन्ततः उसी की योग्यता या अयोग्यता दर्शायेगी।

अतः राजनीतिक दलों में प्रचलित अदृश्य 'हाई कमान', यानी परोक्ष अध्यक्षीय प्रणाली, को प्रत्यक्ष बना देना ही उस समस्या का समाधान है, जिससे अभी आम आदमी पार्टी जूझ रही है। किन्तु यह अन्य दलों की भी समस्या है। जो नेता चुक गया, अस्वीकृत हो गया, या कोई बड़ी गलती कर बैठा, उसे रियायत में जाना ही चाहिए। इसी में देश का और उसका भी सम्मान है। राजनीति में नई प्रतिभाओं के आते रहने का मार्ग भी तभी खुलेगा। जैसा, अमेरिका, यूरोप में है। वहाँ किसी की बड़ी गलती या हार के बाद उसके राजनीति में रहने की परम्परा नहीं है।

पार्टी में घोषित अध्यक्षीय प्रणाली से यह भी लाभ होगा कि नेताओं की आपसी प्रतिस्पर्धा को न्यायोचित मार्ग मिल जायेगा। यदि प्रदेश या राष्ट्रीय स्तर पर पार्टी कार्यकर्ताओं, समर्थकों ने किसी को अधिक पसन्द कर लिया तब दूसरे प्रतिद्वन्द्वी की महत्वाकांक्षा भी शान्त हो रचनात्मक होने में लगेगी। तब वे पुनः मिलकर काम कर सकेंगे या कोई दूसरा कार्य करेंगे। उनकी योग्यता मुँह फुलाये समय बर्बाद करने से हटकर कुछ-न-कुछ उपयोगी कर सकने में लगेगी। अमेरिकियों से हमें कुछ अच्छा भी सीखना चाहिए।

यह समाज चल नहीं सकता

ध्रुव शुक्ल*

कभी-कभी लिखना व्यर्थ लगने लगता है। शायद यह लिखने का नहीं बोलने का समय है। हर जगह बोलते हुए लोग नजर आते हैं। संसद से लेकर सड़क तक लोग कितना बोल रहे हैं। लगता है बोलने के अलावा कोई कुछ कर ही नहीं रहा। कोई हिन्दुओं की तरफ से बोल रहा है, कोई मुसलमानों की तरफ से, कोई ईसाइयों की तरफ से बोल रहा है। कोई रईसों का प्रवक्ता है तो कोई पिछड़ों की तरफ से बोल रहा है और कोई दलितों की आवाज बना हुआ है। किसानों, मजदूरों, युवाओं और महिलाओं की तरफ से भी कोई-न-कोई बोल ही रहा है। जो किसी की तरफ से नहीं बोल रहा वो अपनी तरफ से बोल रहा है और जो चुप दिखाई देता है उसे जरा-सा छेड़ दो तो इतना बोलता है कि चुप ही नहीं होता। टेलीविजन चैनल तो इसी छेड़खानी की दम पर करोड़ों कमा रहे हैं।

लोग बोल रहे हैं और बोलते-बोलते बार-बार कह रहे हैं कि मेरे कहने का मतलब यह नहीं था। तो फिर क्या है उनके कहने का मतलब? लोग अपने कहने के मतलब को साफ तौर पर बता नहीं पा रहे और किसी-न-किसी की तरफ से बोले चले जा रहे हैं। जिन बहुत सारे लोगों की तरफ से कुछ लोग बोल रहे हैं वे तमाशबीन की तरह यह मान बैठे हैं कि अब हमें बोलने की क्या जरूरत, हमारी तरफ से कुछ लोग बोल तो रहे हैं। मदारी के मजमे की तरह रचा जाता यह तमाशा हम रोज देखते हैं और इसे देखकर इस भ्रम में बने रहते हैं कि हर रोग का शर्तिया इलाज इन बोलने वालों के पास है। मदारी बदलते रहते हैं पर मजमा कहीं बदलता है।

गाँधी जी कहते थे कि—सच्चा डॉक्टर वह है जो रोग की जड़ खोजे। अगर आप हिन्दुस्तान के रोग के डॉक्टर होना चाहते हैं तो आपको रोग की जड़ खोजनी ही पड़ेगी। गाँधी जी ने रोग का लक्षण पहचानते हुए सौ साल पहले ही चेताया था कि — अंग्रेज व्यापारियों को हमने ही बढ़ावा दिया तभी वे हिन्दुस्तान में अपने पैर फैला

सके। फिरंगी कम्पनी व्यापार और लड़ाई के काम में कुशल थी। उसमें उसे नीति-अनीति की अड़चन नहीं थी। व्यापार बढ़ाना और पैसा कमाना यही उसका धन्धा था। उसमें हमने मदद दी तब उसने हमारी मदद ली और अपनी कोठियाँ बढ़ायीं। उस वक्त हिन्दू-मुसलमानों के बीच बैर था। कम्पनी को उससे मौका मिला। हमने ही ऐसे संयोग पैदा किये जिससे हिन्दुस्तान पर उसका अधिकार हो जाये। इसलिए हिन्दुस्तान गया ऐसा कहने के बजाय ज्यादा सच यह कहना होगा कि हमने हिन्दुस्तान अंग्रेजों को दिया।

किसी की बातों में आये बिना जो साफतौर पर दिखाई पड़ रहा है उसका मतलब बिल्कुल वही है जो डॉक्टर गाँधी ने ईस्ट इंडिया कम्पनी और उससे हमारे व्यवहार के बीच पहचाना था। पिछले तीस वर्षों से भारत में जो कम्पनियाँ प्रवेश करती आ रही हैं उन्हें हमारी सरकार और व्यापारियों से खूब मदद मिल रही है। उनकी कोठियाँ और दुकानें सज रही हैं। भारत के लोग उनके माल पर रीझ रहे हैं और हमारे नेतागण उन्हें सात समुन्दर पार जाकर बुला रहे हैं। जब हमारे नेता ही भारत की आउट सोर्सिंग में बढ़-चढ़कर हिस्सा ले रहे हैं तब वह रोग कैसे ठीक होगा जो दो सौ साल से हमारे गले पड़ा है। कहीं हम फिर से भारत को फिरंगियों के हाथों सौंपने की तैयारी तो नहीं कर रहे?

विश्व बाजार ने भारत में अपने पैर पसारने की तैयारी आजादी के लगभग बीस साल बाद ही शुरू कर दी थी, जब हरित और श्वेत क्रान्ति के नाम पर हमारे परम्परागत बीजों के स्वभाव को बदला जाने लगा। गो धन और पशु धन की नस्लें तेजी से बदली गयीं। उसी समय बैंकों के दरवाजे, रासायनिक खाद, खेती की मशीनें, आयातित बीज और विदेशी नस्लों की गायें खरीदने के लिए किसानों का हित मानकर खोल दिये गये। फिर बीसवीं सदी के अन्त तक सिर्फ तीस सालों में हमने अपनी अधिकांश उपजाऊ जमीन को बाँझ बना डाला। हम अपने गोधन से दूर होते गये और हमारी माटी के स्वभाव को पहचानने वाले बीज खोते गये। भारत की खेती लाभ का धन्धा बनते-बनते अब भारत के लोगों के स्वास्थ्य के लिए ही हानिकारक साबित हो रही है और ऑर्गेनिक खेती जो पहले ही सहज सम्भव थी वह अब महँगा धन्धा बना दी गयी।

उपजाऊ धरती से लोगों का रिश्ता तोड़ने में सफल होने के बाद ही रियल एस्टेट आता है। हमने उसे भी आने दिया और अब वह उर्वर धरती को भी सीमेंट-कांक्रीट से पाट रहा है। तालाबों की जमीन को मलबे से पाटकर उस पर कब्जा जमा रहा है। उसने श्मशानों की जमीन को भी नहीं छोड़ा है। चारागाहों की जमीन तो अब कहीं दिखाई नहीं देती। शहरों की सड़कों पर भटकती गायें जूठन और कागज खा रही हैं।

*एम.आई.जी. 54 कान्हा कुंज, कोलार रोड, भोपाल 462 042,

पोषण की जगहों पर काबिज होने के बाद विश्व बाजार ने शिक्षण में सेंध लगायी। आजादी के बाद भारत की जीवन-प्रणाली और ज्ञान पर आधारित कोई कर्म-विमर्श शायद ही हमारे किसी विश्वविद्यालय ने प्रस्तुत किया हो। हमारे विद्यालयों ने बच्चों को दूर दुनिया की कठिन प्रतियोगिताओं में दौड़ने के लिए विवश करने के अलावा कुछ नहीं किया है। यही कारण है कि हम देशभक्त लोगों को ढूँढ़ते फिर रहे हैं। किसी देश में उसके परम्परागत विमर्श की भाषा बदल देने से लोगों में देश-प्रेम की भावना खो जाती है। इस पाप में वामपन्थी राजनीति से जुड़े गिरोहों की बड़ी भूमिका है। उनकी भी जो इस विमर्श को बनाये न रख सके।

भारत के किसी राजनीतिक दल की जड़ें इस देश की जमीन में कभी नहीं रहीं। सब आयातित विचारों और प्रणालियों से संचालित होते रहे, आज भी हो रहे हैं। किसी की जड़ें अमरीका में हैं, किसी की रूस में और किसी की तो अब भी ब्रिटेन में ही हैं। आज भी हमारे राजनीतिक दल उसी एजेंडे पर अग्रसर हैं कि भारत कभी यूरोप की छाया से बाहर न निकल सके। हमारे देश में वामपन्थी और समाजवादी किस्म की आयातित राजनीति अभावग्रस्त समता को ही पाल-पोसकर अब तक बड़ा करती आयी है। उसके भौँति-भौँति के नेता भारत के अभावग्रस्त और असुरक्षित लोगों को पिछड़ी, दलित, अल्पसंख्यक और विभिन्न जातियों के बाड़ों में कैद करके अपनी सत्ता और वैभव के लिए ही तड़पते हैं।

इसी अभावग्रस्त समता की राजनीति ने बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक का हौवा खड़ा करके भारत के बहुसंख्यक समाज को टुकड़ों में बाँटकर अपने वोट बैंक में जमा कर लिया है और इसे हुंडी की तरह प्रत्येक चुनाव में भुनाया जाता है। फिर बड़े राजनीतिक दलों को गठबन्धन के लिए बाध्य किया जाता है। भारत के जनजीवन को सुखी बनाने में हर मोर्चे पर विफल ये लोग चुनाव लड़ने के लिए ही तीसरा मोर्चा बनाया करते हैं। जो वामपन्थी अब पूरी दुनिया में विफल हो चुके हैं और जिनके मन में भारत की चिन्तन-प्रणाली और कर्म सापेक्ष जीवन के प्रति सदा घृणा का भाव रहा है वे ही तो सबसे आगे आकर आयातित धर्म निरपेक्षता का कुतर्कपूर्ण बेसुरा राग अलापते हैं।

भारत के विषय में घोर अज्ञान से भरे ये वामपन्थी आज तक यह समझ ही नहीं पाये हैं कि भारत के प्रज्ञावान साधकों ने पाँच हजार साल पहले उस आत्म-भाव को दृढ़तापूर्वक अनुभव कर लिया जहाँ सारे धर्म अपने-आप छूट जाते हैं। यही कारण है कि भारत ऐसी संस्कृति का निर्माण कर सका जहाँ सबको अपनाया जा सकता है। अपने इस सांस्कृतिक बल के कारण ही भारत उन सब जातियों को भी अपना सका जिनके पूर्वज कभी यहाँ आक्रान्ता के रूप में दाखिल हुए थे।

भारत में हिन्दू और मुसलमान नहीं लड़ रहे हैं। उन्हें देश की बस्तियों में एक-दूसरे के साथ जीते हुए देखा जाता है। पर जो कुटिल लोग मुसलमानों को हिन्दुओं से

दूर रखकर ही भारत की सत्ता में अपने अल्पसंख्यक वोट बैंक के बल पर अपनी जगह बनाये रखना चाहते हैं वे सब मोर्चा बाँधकर हिन्दू समाज से लड़ रहे हैं। उसे गरीबी, पिछड़ेपन और जातिगत विभाजनों के आधार पर तोड़ रहे हैं। भारत में वामपन्थी और तथाकथित समाजवादी राजनीति देश की बहुसंख्यक एकता को अल्पसंख्यक असहायता में बदलकर अपना राजनीतिक स्वार्थ साधे रहने की अपनी ही चालों में फँसी दिखाई देती है।

जनता को अपने राजनीतिक बाड़ों में कैद करके ही वामपन्थी राजनीति सत्ता पाती रही है। यह महज संयोग नहीं कि नक्सलवाड़ी का इलाका बंगाल से विस्तार पाकर देश के अनेक वनांचलों को कंगाल बनाये हुए है। ये वाम दिशा की ओर खुलने वाले पथों पर चलने वाले लोग यह कभी नहीं बताते कि जो लोग विश्वव्यापी आतंक में भागीदार हैं उनके बारे में इनकी स्पष्ट राय क्या है। ये पड़ोसी मुल्क की हिंसक और विश्वासघाती करतूतों पर परदा क्यों डाले रहते हैं। जब भी कोई संगठन या कोई व्यक्ति इनके इस मतान्ध कट्टरपन के मूक समर्थन पर उँगली उठाता है तो ये अपने साम्प्रदायिक कारनामों को छिपाने के लिए उसे ही साम्प्रदायिक घोषित किये रहने का शोर मचाया करते हैं। इनका सारा राजनीतिक इतिहास अपने पापों पर परदा डालकर दूसरों को पापी करार देने का रहा है।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय इन्हीं छिपे हुए पापियों का बाड़ा है और जो दूसरे लोग वहाँ हैं वे इस बाड़े में कैद हैं। अगर वे छटपटाते हैं और कुछ कहते हैं तो ये वाममार्गी लोग उन्हें प्रतिक्रियावादी ताकतें कहकर खारिज करते हैं और अपनी इंटेलिक्चुअल ठेकेदारी का रुतबा बताकर, उन्हें पोंगापन्थी कहकर उनका मजाक इसलिए उड़ाया करते हैं कि कोई जवाब न देना पड़े। इनके इस तिरस्कारपूर्ण व्यवहार का उत्तर इस विकल्प से दिया जा सकता है कि वे कौन-से वृक्ष हैं जिन्हें हम अपने विश्वविद्यालयों में रोपकर वह गुरुछाया रच सकें जिसके सान्निध्य में भारत और दूर-दुनिया में खोजी गयी श्रेष्ठ ज्ञान प्रणालियों का आवाहन हो सके।

धर्म ग्रन्थ और संहिताएँ किसी के जलाने से नष्ट नहीं होते। उनके नष्ट होने और विस्मृत होने का मुख्य कारण समयानुकूल उनकी कूट अस्पष्टता ही होती है। वे बार-बार पढ़े जाने चाहिए और उनमें युगानुरूप संशोधन भी होते रहना चाहिए। यह काम राज्य और राजनीति नहीं, ज्ञानपीठ पर विराजे आचार्य ही कर सकते हैं। भारत में सदा एक टोकने वालों का समाज रहा है जो बिना किसी दुराग्रह के लोकहित में राज्य और समाज को टोकता रहा है और यह आह्वान करता आया है कि सत्य के लिए किसी से न डरना—वेद से भी नहीं, लोक से भी नहीं, गुरु से भी नहीं, मन्त्र से भी नहीं।

आधुनिक हिन्दी के अनुपम कवि गजानन माधव मुक्तिबोध की कविता—
अँधेरे में—का यह कवितांश चुनौती की तरह शायद हमें अब भी झकझोर सके—

लोकहित पिता को घर से निकाल दिया
जन-मन-करुणा-सी माँ को हंकाल दिया
स्वार्थों के टेरियार कुत्तों को पाल लिया
भावना के कर्तव्य—त्याग दिये
हृदय के मन्तव्य—मार डाले
बुद्धि का भाल ही फोड़ दिया
तर्कों के हाथ उखाड़ दिये
जम गये, जाम हुए, फँस गये
अपने ही कीचड़ में धँस गये
विवेक बघार डाला स्वार्थों के तेल में
आदर्श खा गये

अब तक क्या किया
जीवन क्या जिया
ज्यादा लिया और दिया बहुत-बहुत कम
मर गया देश, अरे, जीवित रह गये तुम...

मुक्तिबोध घोषित वामपन्थी थे। यह कविता वामपन्थियों को ही नहीं धिक्कार रही। यह तो मध्य और दक्षिणमार्गियों को भी आईना दिखा रही है। इस दीर्घ कविता में मुक्तिबोध अपने सामने खुद को खड़ा करके उस आत्मसम्भवा अभिव्यक्ति की खोज में बेचैन दिखाई पड़ते हैं जो कहीं को गयी है। वे हरेक चेहरे, गतिविधि, चरित्र और आत्मा के इतिहास के साथ देश और राजनीतिक परिस्थिति, प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श, विवेक-प्रक्रिया और क्रियागत परिणति को हर गली और हर मोड़ पर देख रहे हैं और खोज रहे हैं उस खोयी हुई आत्मसम्भवा परम अभिव्यक्ति को, इस विश्वास के साथ कि वह मिल सके। अगर नहीं मिली तो मुक्तिबोध ही अपनी कविता में हमें चेता गये हैं कि—यह समाज चल नहीं सकता, पूँजी से जुड़ा हृदय बदल नहीं सकता...।

भारतीय समाज में विधवा का स्थान

जियालाल आर्य*

भारतीय हिन्दू समाज में औरत का विधवा होना एक अभिशाप के रूप में देखा और माना जाता है। विधवा होते ही औरत के वे सभी सामाजिक, धार्मिक और पारिवारिक दायित्व, कर्तव्य और अनुष्ठान छिन जाते हैं जिन्हें वह सधवा के रूप में करती थी और समाज में प्रतिष्ठा पाती थी। हमारे शास्त्रों ने विधवाओं के लिए 'विधवा धर्म' बना दिया, जो आज के सभ्य समाज में भी किसी-न-किसी रूप में जड़ जमाए हुए हैं। समाज को सजग करने और औरतों को अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करने के लिए विधवा-समस्या पर विचार करना आवश्यक हो गया है।

भारत के सबसे पुराने ग्रन्थ “ऋग्वेद” में 'विधवा' शब्द कई बार आया है, किन्तु इनमें अन्तिम अर्थात् ऋग्वेद 10/40/2 को छोड़कर अन्य अंश विधवा की दशा पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डालते। “(डॉ. पी. वी. काणे) ऋग्वेद (9/87/3) में उल्लेख है कि मरुतों की अतिशीघ्र गतियों से पृथ्वी पतिहीन स्त्री की भाँति काँपती है। इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय विधवाएँ या तो पतिहीन होने के दुःख से या अन्य कारणों से काँपती थीं। स्त्रियों की यह दशा आज भी है।

विधवा धर्म पर बौधायन धर्मसूत्र में कहा गया है कि विधवा को पति के देहावसान से साल-भर तक मधु, माँस, मदिरा, एवं नमक त्याग देना चाहिए और भूमि पर शयन करना चाहिए। ये सभी खाद्य-पदार्थ गर्मी एवं उत्तेजना पैदा करने वाले होते हैं। अतः स्त्री के काम शान्ति के लिए ये आवश्यक हैं। मनुस्मृति के 5वें अध्याय में कहा गया है कि, “पति की मृत्यु के बाद स्त्री, यदि चाहे तो, केवल पुष्प, फल एवं कदमूल आदि खाकर रहे। उसे अपना शरीर मृत्यु-पर्यन्त संयम से रहना चाहिए, सतीत्व की रक्षा करनी चाहिए, और पतिव्रता के गुणों एवं सदाचरण की आकांक्षा करनी चाहिए। ऐसा करने से उसे स्वर्ग प्राप्ति होती है। विधवा स्त्री को डराने और स्वर्ग का लालच देकर यहाँ तक कहा गया कि “पुत्रहीन विधवा यदि अपने पति के

*“आर्य निवास”, 23, आई.ए.एस. कॉलोनी, किदवईपुरी, पटना-1 (भारत)

विस्तर को अपवित्र किए बिना गुरुजनों के साथ रहती है तो उसे मृत्यु-पर्यन्त पति की सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है और स्वर्ग को जाती है।” (कात्यायन)

बृहस्पति ने पहली बार विधवा के सती होने की बात करते हुए कहा कि, “पत्नी पति की अर्धांगिनी है, वह पति के पापों एवं पुण्यों की सहभागी होती है। वह सद्गुणी पत्नी, चाहे वह पति की चिता पर भस्म हो जाती है या जीवित रह जाती है, अपने पति के आध्यात्मिक लाभ को अवश्य प्राप्त करती है।” सद्गुणी का तात्पर्य है कि विधवा होने पर स्त्री बाल सँवारना छोड़ दे, पान खाना, सुगन्ध लेना, आभूषण पहनना और रंगीन परिधान पहनना छोड़ दे। पीतल-काँसे के बर्तन में खाना नहीं खाए। श्वेत वस्त्र धारण करे, ईश्वर की आराधना में तल्लीन हो पृथ्वी पर कुशासन पर शयन करे।

समाज के नियम समय और परिस्थिति की आवश्यकतानुसार बनाए जाते हैं। लगता है मौद्गलायन के समय विधवा के आश्रय और रक्षा की आवश्यकता पड़ने लगी थी, इसीलिए उन्होंने व्यवस्था दी कि विधवा छः माह तक सद्गुणों का पालन करे। तदन्तर यदि वह पुत्रहीना है तो गुरुजन के आदेश से अपने देवर से एक पुत्र उत्पन्न कर सकती है। वशिष्ठ धर्मसूत्र में भी ऐसे नियोग की व्यवस्था का संकेत है।

समाज के धर्माधिकारियों ने विधवा की सामाजिक स्थिति को इतनी दयनीय बना दिया कि उसे अमंगलों में सब से अमंगल की संज्ञा दी। ‘मदन पारिजात’ में कहा गया कि, “विधवा दर्शन से कार्यसिद्धि नहीं होती, विधवा से विज्ञान आशीर्वाद नहीं प्राप्त करते, केवल अपनी माता को छोड़कर। विधवा को सिर मुंडित रखना चाहिए, क्योंकि केश बाँधने से पति बन्धन में पड़ता है। विधवा के पर्यंक पर सोने से पति को नरक मिलता है।”

विधवा को सम्पत्ति पर अधिकार नहीं होता था। संयुक्त परिवार में मात्र भरण-पोषण के लिए सम्पत्ति मिलती। यह सब निर्देश वेद-पुराण को साक्षी बनाकर लागू किए गए, जबकि वेद में केवल विधवा का संकेत मात्र है, या नियोग की बात है, किन्तु मुंडन का या श्वेत वस्त्र धारण करने का या धार्मिक अनुष्ठानों में सम्मिलित न होने का कोई उल्लेख नहीं है। (ऋग्वेद 10/40/2)

डॉ. पी. वी. काणे के अनुसार, “विधवा-मुंडन के विषय में कोई स्पष्ट वैदिक प्रमाण नहीं मिलता, धर्मसूत्र इसकी ओर संकेत भी नहीं करते। मनु या याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ भी ऐसा कुछ नहीं कहती हैं। यदि किसी स्मृति में मुंडन का उल्लेख मिलता है तो हारीत स्मृतियाँ इसका विरोध करती हैं। “बौद्ध भिक्षुणियाँ बाल कटाती थीं, वे विधवा नहीं होती थीं, पर नारंगी रंग का परिधान धारण करती थीं। महाराष्ट्र के कुछ क्षेत्रों में ब्राह्मण विधवाएँ लाल रंग की साड़ी आज भी पहनती हैं।

19वीं शताब्दी विधवाओं के लिए सुधार का युग कहा जाएगा। मैंने अपनी पुस्तक “जोतीपुंज महात्मा फुले” में लिखा है, “क्षत्रिय समाज में युवावस्था में

मृतभर्तृका होनेवाली महिलाओं को पति की चिता के साथ ‘सती’ होना पड़ता था। राजाराम मोहन राय ने अपनी भाभी को चिता पर जलते देखा था। इस अमानवीय दृश्य से उनका दिल दहल गया। उन्होंने सती प्रथा के विरोध में आन्दोलन का ध्वज उठा लिया। इस क्रूर प्रथा को सरकार ने 1829 में ही कानून द्वारा निरस्त कर दिया था, परन्तु दुर्भाग्य है कि करीब दो सौ साल बाद, आज भी सती-प्रथा कहीं-कहीं जीवित है।”

विधवा विवाह की प्रथा वैदिक काल में थी। ‘पुनर्भू’ शब्द उस विधवा के लिए प्रयुक्त होता था, जिसने पुनर्विवाह किया हो। “अग्नि परिगता या च पुनर्भूः प्रशवा च या” का उल्लेख कश्यप की ‘स्मृतिचन्द्रिका’ में किया गया है। स्मृतिकाल में विधवा-विवाह को समाप्त कर दिया गया।

महात्मा फुले ने सती-प्रथा और विधवा-विवाह-निषेध को समाप्त करने का संकल्प लिया। नवम्बर 1852 में हृदय विदीर्ण करनेवाली मर्मभेदी एक घटना का समाचार बम्बई के समाचार-पत्र में प्रकाशित हुआ कि भुज में एक महिला को, ब्राह्मण लोग, उसके पति की चिता पर बिठाना चाहते थे, परन्तु वह मरना नहीं चाहती थी। अंग्रेज अधिकारियों ने जब उसे बचाना चाहा, तब चिता को चारों ओर से घेरकर ब्राह्मणों ने उस स्त्री के सिर टुकड़े-टुकड़े कर दिए। ऐसी ही एक घटना पुणे में भी हुई।

महात्मा फुले पर इसका प्रभाव पड़ा। उनका दिल पसीज गया। संयोग से उन्हें समाज से सहयोग भी मिलने लगा। उनके मित्र सदाशिव राव गोवंडे की बहन को सती होना पड़ा था, अतः उन्होंने इस सती-प्रथा के विरोध जैसे पुनीत काम में सक्रिय सहयोग किया। महात्मा फुले ने विधवा-विवाह कराने, विधवा-मुंडन रोकने और विधवाओं के अवैध बच्चों की सुरक्षा के लिए सार्थक कदम उठाए। बम्बई में नाइयों की एक सभा में महात्मा फुले ने यह संकल्प पारित कराया कि कोई भी नाई अब से किसी विधवा का मुण्डन नहीं करेगा। विधवा मुण्डन बंद हो गया। विधवाएँ सकेशा होकर आत्म-सम्मान का जीवन जीने लगीं।

राजाराम मोहनराय की विधारधारा दक्षिण भारत में पहुँची। उसी समय न्यायाधीश माधव गोविन्द रानाडे, उच्च विचारक, क्रान्तिधर्मा समाज सुधारक और यशस्वी अर्थशास्त्री थे। वे विधवा-विवाह के समर्थक थे, परन्तु समाज के भय से उसे लागू नहीं कर पा रहे थे। 32 साल की आयु में उनकी पत्नी का स्वर्गवास हो गया। उनके प्रगतिशील विचारक मित्रों ने एक विधवा से पुनर्विवाह करने की सलाह दी। परन्तु समाज के डर से वे इसे अस्वीकार कर दिए और 25 वर्ष की कन्या रमाबाई से विवाह रचाया। ऐसा था वह समाज।

रानाडे—‘प्रार्थना समाज’ के संस्थापकों में एक थे। अपने साथ घटी घटना ने उनकी आत्मा को आन्दोलित किया। वे सक्रिय रूप से विधवा विवाह, नारी-शिक्षा, बाल-विवाह प्रतिबन्ध, जातिभेद उन्मूलन आदि सामाजिक समस्याओं से जुड़े रहे,

परन्तु यह उपदेश अपने घर में लागू नहीं कर सके। वे अपनी विधवा बहन की शादी नहीं करा सके। सामाजिक रूढ़ियाँ उन्नत विचारों पर भारी पड़ीं, परन्तु विचार कभी मरते नहीं। वे आज जीवित हैं और समाज को सुधारने में सार्थक सिद्ध हो रहे हैं।

महात्मा फुले जो कहते वह करते भी थे। उन्होंने भ्रूण हत्या प्रतिबन्धक गृह की स्थापना की। विधवा माताओं के जच्चा-बच्चा की व्यवस्था की। ऐसी ही एक ब्राह्मणी विधवा के बच्चे को उन्होंने गोद लिया, पढ़ाया, लिखाया और डॉक्टर बनाकर समाज सेवा में लगाया। नाम यशवंत।

आज हम 21वीं सदी में प्रवेश कर गए हैं। समाज सुधार के कार्यक्रमों के लिए बीसवीं सदी बहुत ही उत्साहवर्धक रही। सरकारी नियम-कानून, स्त्रियों, विधवाओं कमजोर वर्गों की सहायता में आगे आए। अनेक स्वयंसेवी संगठन विधवा-विवाह जैसे पुनीत काम में लग गए हैं। इससे विधवाओं का यौन-शोषण क्षीण हुआ है। उनमें आत्म-सुरक्षा और आत्म-स्वाभिमान जागा है। वे न केवल सामाजिक, धार्मिक कार्यों एवं अनुष्ठानों में आगे आ रही हैं बल्कि समाज को विकास की दिशा में अग्रणी करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं।

भारतीयता की तलाश और श्री कुबेरनाथ राय

मनोज कुमार राय*

भारत और भारतीयता की बात को आजकल फैशन के तौर पर जहाँ-तहाँ उठाया जा रहा है। शिक्षाविद् से लेकर राजनीतिक कार्यकर्ता तक सभी अपने-अपने हिसाब से सक्रिय हैं पर सच तो यह है कि यह सिर्फ स्थापित पार्टी-राजनीति के लंबरदारों के कानों तक पहुँचाने की कोशिश भर ही है। तात्कालिक लाभ के लिए इसे एक हथकंडे (टूल) की तरह इस्तेमाल करना हम सबकी आदत बन गई है। कोई नारे लगवाकर अपनी स्पृहा की संतुष्टि चाहता है तो कोई दूसरों से ज्यादा स्वयं को राष्ट्रभक्त साबित करना चाहता है। कुल मिलाकर कहें तो उसके तर्कों के विश्लेषण के गंभीर प्रयत्न नहीं हो रहे हैं। दरअसल 'भारतीयता' को समझने के लिए 'भारतीय मानस' को समझना जरूरी है। यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें अनुसंधान और चिंतन बहुत कम हुआ है। आज जब देश में विघटनमूलक और विच्छिन्नतावादी राजनीति अपना रूप बदल-बदलकर सक्रिय है तब इस पर गहन चिंतन-मनन की आवश्यकता और बढ़ जाती है।

भारतीयता पर विचार करते हुए गाँधीवादी चिंतक श्री कुबेरनाथ राय एक साथ अनेक प्रश्न उठाते हैं : 'भारतीयता क्या है? इसका ढाँचा कैसा है? इसकी परिभाषा क्या है? इसकी आवश्यकता क्या है? इसकी पहचान कैसे की जाय?' भारत से हम कैसे जुड़ सकते हैं? हम जानते हैं कि ये प्रश्न नए नहीं हैं। पर ये प्रश्न इसलिए जरूरी हैं कि इन्होंने हमारी कई पीढ़ियों को उद्धेलित किया है और आज भी इस पर बहस जारी है। किन्तु किसी निश्चयात्मक उत्तर तक हम नहीं पहुँच पाये हैं। शायद पहुँचा भी नहीं जा सकता है—“भारतीय संस्कृति या भारतीयता क्या है? यह एक 'अति प्रश्न' (चरम प्रश्न) है। 'अति प्रश्न' का उत्तर परिभाषित करना संभव नहीं। जहाँ परिभाषित संभव नहीं वहाँ एक मात्र समाधान है 'पहचान' बनाना।” (मराल, पृ.160) इस उद्धोष के साथ ही श्री कुबेरनाथ राय लेखन क्षेत्र में उतरते हैं और न केवल उतरते

*‘सत्याग्रह सदन’ सत्संग विहार, सुसुवाही, वाराणसी -5; दूरभाष : 9451576519

हैं अपितु इसकी पहचान की तलाश में गंगातीरी/भोजपुरी इलाके से लगायत ईशान कोण से प्रवहमान ब्रह्मपुत्र और काजीरङ्गा तक की यात्रा करते/कराते हैं।

कुबेरनाथ राय अपने लेखन-उद्देश्य के प्रति सतत जागरूक रहे हैं—“सच तो यह है कि मेरा सम्पूर्ण साहित्य या तो क्रोध है, नहीं तो अंतर का हाहाकार। पर इस क्रोध और आर्तनाद को मैंने सारे हिंदुस्तान के क्रोध और आर्तनाद के रूप में देखा है। इन निबंधों को लिखते समय मुझे सदैव अनुभव होता रहा ‘अहं भारतोऽस्मि’।” (रस-आखेटक पृ.195) अपने एक निबंध संग्रह के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—“निषाद-बाँसुरी” संग्रह का एक गौण उद्देश्य यह भी है: “भारतीयता का प्रत्यभिज्ञान, अर्थात् भारत की सही ‘आइडेंटिटी’ का पुनराविष्कार, जिससे वे जो कई हजार वर्षों से आत्महीनता की तमसा में आबद्ध रहे हैं।” (निषाद बाँसुरी पृ.244) श्री राय अपने सम्पूर्ण लेखन में सर्वत्र भारतीयता की जमीन पर मुरेठा बाँधे हुए लउर पर ठुड़ी टिकाये हुए नजर आते हैं। यहीं से उनकी अनिमेष लोचन-दृष्टि भारतीयता के गुणसूत्रों की तलाश करती है—“जिस ‘भारत’ की बात मेरे सम्पूर्ण साहित्य में आती गई है वह है इस देश का ‘चिन्मय’ और ‘मनोमय’ संस्करण। वह चिन्मय और मनोमय रूप किसी प्रकार की क्षुद्रता और संकीर्णता से ऊपर है। शिवत्व-बुद्धत्व-रामत्व ही इसके प्रतीक हैं।” (मराल, पृ. 168)

श्री राय की नजर में यह ‘भारतीयता’ किसी एक की बपौती नहीं अपितु ‘संयुक्त उत्तराधिकार’ है। और इस उत्तराधिकार के रचयिता सिर्फ आर्य ही नहीं रहे हैं। वस्तुतः आर्यों के नेतृत्व में इस संयुक्त उत्तराधिकार की रचना द्राविड़-निषाद-किरात ने की है। ग्राम-संस्कृति और कृषि-सभ्यता का बीजारोपण और विकास निषाद द्वारा हुआ है। नगर सभ्यता, कला-शिल्प, ध्यान-धारणा, भक्तियोग के पीछे द्राविड़ मन है। आरण्यक शिल्प और कला-संस्कारों में किरातों का योगदान है। श्री राय के लिए ‘भारतीयता’ कोई अमूर्त अथवा यूटोपिया नहीं है अपितु प्रत्यक्ष सगुण रूप है—“मुझसे जब कोई पूछता है कि ‘भारतीयता क्या है’ तो मैं इसका एक शब्द में उत्तर देता हूँ, वह शब्द है ‘रामत्व’—राम जैसा होना ही सही ढंग की भारतीयता है। हमारे युग में भी एक पुरुष ऐसा हो गया था जिसने राम जैसा होने की चेष्टा की और बहुत कुछ सफल भी रहा। वह पुरुष था महात्मा गाँधी।” (त्रेता का वृहत्साम, पृ. 165) श्री राय के लिए ‘भारत’ कोई ‘मानसिक भोग’ या ‘भौगोलिक सत्ता’ नहीं है। यह उससे बढ़कर ‘एक प्रकाशमय, संगीतमय भाव-प्रत्यय या चैतन्य-प्रतिमा का रूप’ तो है ही ‘अधिक सत्य एवं शाश्वत’ भी है। (कामधेनु, पृ. 90) श्री राय का आग्रह है कि ‘भारत’ को मात्र एक राजनीतिक और भौगोलिक इकाई के रूप में न देखकर उसे भारतीय मनुष्य, भारतीय धरती और भारतीय संस्कार के त्रिक के रूप में देखना चाहिए। एक राजनीतिक इकाई मात्र मान लेने से ‘भारत’ का अस्तित्व एक मतदाता सूची में बदल जाता है। एक भौगोलिक इकाई मात्र स्वीकार कर लेने पर उसका बँटवारा हो सकता

है। पर एक संस्कार समूह और बोध सत्ता के रूप में उसका विशिष्ट निराकार रूप कालजयी है—“भारत की यह निराकार मूर्ति (अर्थात् ‘संस्कार समूह’ के रूप में) सूक्ष्मतर होने की वजह से अधिक कालजयी है। कोई जवाहरलाल या कोई जिन्ना इसका ‘पार्टीशन’ या बंदर-बाँट नहीं कर सकता।” (कामधेनु, पृ. 90) गाँधी ने भी ‘हिन्द-स्वराज’ में इसी बात को थोड़ा और गर्वीले भाव में कहा है—‘हिंदुस्तान को बहुत से अक्ल देने वाले आए और गए पर हिंदुस्तान जिस का तस रहा।’ अपने एक अन्य निबंध संग्रह ‘मराल’ में श्री राय ‘भारतीयता’ को और भी स्पष्ट करते हैं—“अतः ‘राम’ शब्द के मर्म को पहचानने का अर्थ है भारतीयता के सारे स्तरों के आदर्श रूप को पहचानना.... सही भारतीयता क्षुद्र, संकीर्ण राष्ट्रीयता के दम्भ से बिल्कुल अलग तथ्य है। यह ‘सर्वोत्तम मनुष्यत्व’ है। पूर्ण ‘भारतीय’ बनने का अर्थ है ‘राम’ जैसा बनना।” (मराल, पृ. 163)

कुबेरनाथ राय की दृष्टि में ‘भारत भूगोल से ज्यादा एक जीवन दर्शन और एक मूल्य परंपरा है’, जिसे वे ‘मनुष्यत्व का महायान’ कहते हैं। (उत्तरकुरु, पृ. 105) इसके पीछे के कारणों को भी वे स्पष्ट करते हैं—“इसी जम्बूद्वीप में देवता मनुष्य के लोक में नीचे उतरकर मनुष्यों के साथ ‘मिश्र’ होकर रहते आये हैं।” (उत्तरकुरु, पृ. 105) देवता से उनका तात्पर्य किसी पारलौकिक सत्ता से न होकर देवोपम जीवन दृष्टि से है। वे लिखते हैं—“वह सारी मानसिक ऋद्धि, मानसिक दिव्यता जिसकी कल्पना देवता में की जाय यदि किसी मनुष्य में उतर जाये तो वह देवोपम हो जाता है।” (उत्तरकुरु, पृ. 105-6) इसी देवोपम की पहचान ही असल में ‘भारतीयता’ की पहचान है। इस पहचान-स्वरूप की निर्मिति के लिए वे इतिहास में पसरे कला, शिल्पशास्त्र के खोह में प्रवेश करते चले जाते हैं और वहाँ से ‘भारतीयता की मणि’ लेकर ही निकलते हैं।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. श्यामाचरण दुबे ने अपने निबंध ‘भारतीयता की तलाश’ में भारतीयता की सही समझ की कुछ पूर्व शर्तों की ओर इशारा किया है, जिनमें ‘इतिहास दृष्टि’, ‘परंपरा बोध’, ‘समग्र जीवन-दृष्टि’ और ‘वैज्ञानिक विवेक’ प्रमुख हैं। (समय और संस्कृति, पृ. 44-45) श्री राय के लेखन में यह ‘चतुरानन-दृष्टि’ हर जगह देखने को मिलती है। ‘भारतीयता’ की पहचान के लिए जिस शास्त्रीय, स्थानीय और क्षेत्रीय परम्पराओं के अंतरावलंबन की सूक्ष्म समझ की आवश्यकता पर डॉ. श्यामाचरण दुबे ने जोर दिया है, वह श्री राय को संस्कार में मिली है। कला-शिल्प की आंतरिक संरचना और बुनावट को जिस आत्मीयता से वे प्रस्तुत करते हैं, वह अद्भुत तो है ही असल ‘भारतीय मन’ का प्रमाण भी है। महाकवि कालिदास की अमरकृति ‘शकुंतला’ उनके लिए ‘दुष्यंत-शकुंतला’ की प्रणय-गाथा मात्र न होकर ‘भारतीयता की निर्मिति’ के एक महत्वपूर्ण कोण की तरफ इशारा करती है। उनकी दृष्टि में यह कथा आर्यतर और आर्य के महासमन्वय और वर्णाश्रम के सही ऐतिहासिक स्वरूप की ओर इशारा करने के साथ ही भारतीय धर्म साधना की

पूर्णगता को भी प्रस्तुत करती है, जिसके अनुसार काम और तप परस्पर विरोधी न होकर सहजीवी हैं। भारत के जल-जंगल-जमीन को लेकर लिखे गये उनके निबंधों में ‘भारतीयता’ का इंद्रधनुषी रूप देखने को मिलता है। इस ‘आसेतु हिमाचल वसुंधरा’ को वे मामूली मिट्टी मानने के लिए कतई तैयार नहीं हैं। यह उनके लिए ‘साक्षात देव-विग्रह’ है जिसे ‘कोई जय नहीं कर सकता’। ‘महीमाता’ निबंध में भारतवर्ष के मृण्मय स्वरूप की सार्थक विवेचना करते हुए श्री राय ने यह सिद्ध किया है कि भारत का सिर्फ झंडा ही तिरंगा नहीं है अपितु ‘मिट्टी के रंग की दृष्टि से यह भारतवर्ष तिरंगा, त्रिवर्णी भूमि है—सादी, लाल और काली’। श्री राय की नजर में ‘यह स्वर्णगर्भा वसुंधरा है, शस्य लक्ष्मी, साक्षात माता है’। (निषाद बाँसुरी, पृ. 84)

श्री राय एक जगह लिखते हैं कि ‘भारतीय सभ्यता में बाह्य तत्त्वों को आत्मसात करने की अपूर्व क्षमता थी। ऐसे तत्त्वों का भारतीय सांस्कृतिक परिवेश में अनुकूलन भी हुआ, समाकलन भी’। सच तो यह है कि भारतीयता का विकास एक लम्बी सांस्कृतिक यात्रा है। यह प्रक्रिया निरंतर आज भी जारी है। लेकिन आज परिस्थितियाँ भिन्न हैं। आज हम पर फिर चौतरफा आक्रमण हो रहा है। हर्षवर्धनोत्तर काल में जो स्थिति पैदा हुई थी कुछ वैसी ही परिस्थितियाँ आज फिर से हमारे सामने उत्पन्न हो गई हैं। आज बड़ी सफाई और बारीकी से ‘भारतीयता’ को कुचलने की कोशिश हो रही है—‘भारतीयता के सगुण प्रतीक ‘महात्मा गाँधी’ के नाम को ही मिटाने की कोशिश हो रही है। इसी के साथ ‘अन्नों के देशी बीज, पशुओं की देशी नस्लें, देशी भूषा और सज्जा, देशी भाषा और शब्दावली सब कुछ से हमें धीरे-धीरे काटने की कोशिश चालू है जिससे हम सर्वथा जड़-मूलहीन हो जाएँ। अतः ठहरकर सोचने की जरूरत है। आज हमारे लिए जरूरी है कि पश्चिमी मानसिकता को निरंतर उधार लेने की जगह अपने देशी मानसिक उत्तराधिकारों की चर्चा करें।’ (उत्तरकुरु, पृ. 70) सरस्वती के वरद पुत्र श्री कुबेरनाथ राय की यह चिंता अत्यंत सहज और स्वाभाविक है। उनके लेखन का गम्भीर अनुशीलन आवश्यक है। ‘भारतीयता’ के महत्त्वपूर्ण प्रतीकों की सारगर्भित विवेचना जिस ईमानदारी और प्रामाणिकता के साथ उन्होंने अपने निबंधों में की है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। आज समय की माँग है कि हम उसे समझकर सही परिप्रेक्ष्य में समाज के सामने रखें।

श्री राय की एक बड़ी चिंता है हमारा अपनी जड़ों से अपरिचित होना। डॉ. श्यामा चरण दुबे ने भी एक जगह स्वीकार किया है कि—“जड़ों की तलाश एक बुनियादी सवाल है। वह एक सार्थक जिज्ञासा से जुड़ा है और अस्तित्वबोध को एक नया आयाम और नए मूल्य देता है।” (समय और संस्कृति, पृ. 44) श्री राय का मानना है कि पिछले डेढ़-दो-सौ वर्षों में इस आर्ष चिंतन को अंग्रेजी भाषा के माध्यम से गलत ढंग से समझा और परोसा जा रहा है। स्वतंत्र भारत के बुद्धिजीवी अपने निजी पर्यवेक्षण, अपनी भारतीय दृष्टि और अपने भारतीय स्रोतों के आधार पर आर्ष

चिंतन और भारतीय समाज को समझने तथा तत्संबंधी सिद्धांतों को विकसित करने की अपेक्षा पश्चिमी अवधारणाओं और प्रत्ययों के सहारे अपने अधूरे सरलीकरण प्रस्तुत कर रहे हैं जिनसे देश का भयानक अहित अवश्यंभावी है। सच तो यह है कि भारतीय चिंतन और संरचना को ठीक-ठीक समझने के लिए भारतीय बुद्धिजीवियों को अपना निजी समाजशास्त्र या देशी नृतत्त्वशास्त्र या सौन्दर्य शास्त्र विकसित करना चाहिए। श्री राय इन्हीं जड़ों की तलाश में निरंतर मानसिक यात्रा करते रहे हैं। श्री राय विदेशी विद्वानों से विचारों के आदान-प्रदान के विरोधी नहीं हैं। परंतु गाँधी की ही तरह अपने घर की खिड़कियों को खोले रखने के साथ साथ अपनी निजी-देशी-सौंधी जमीन—‘हमारे हरि हरिल की लकड़ी’—को मजबूती से पकड़े रखने का आग्रह करते हैं। श्री राय उसी आर्ष चिंतन परंपरा के प्रामाणिक दस्तावेज के साथ हमारे सामने उपस्थित होते हैं। इसके लिए वे नृतत्त्वशास्त्र के साथ-साथ भाषा विज्ञान का भी सहारा लेते हैं और अंत में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतवर्ष को जानने के लिए ‘भारत’ और ‘भारतीय विश्व’ को जानना आवश्यक है। भारतीयता की तलाश का रास्ता—लेखन नीरस और उबाऊ न हो इसके लिए उन्होंने आवश्यकतानुसार ‘लालित्य’ का खूब सहारा लिया है। भारतीयता की समझ के लिए लालित्य-बोध एक आवश्यक कड़ी है क्योंकि भारतीयता एक ही साथ ‘भावना’ और ‘मनोदश’ दोनों है। बोधयुक्त देशज लालित्य के अखाड़े में खड़े श्री राय दोनों भुजाओं और जंघों पर भीम-ताल ठोंक कर चुनौती देते हैं। यह सच है कि इस तरह की यह ललकार तो कोई ‘मरदवा’ ही दे सकता है जिसकी अपनी जमीन उर्वरा शक्ति से भरपूर हो।

यह एक तथ्य है कि स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद ही देश में एक सांस्कृतिक अराजकता की शुरुआत हो गई थी। हुमायूँ कबीर जैसे लोगों ने उल-जुलूल व्याख्या से इसकी शुरुआत की और नुरूल हसन की छत्रच्छाया में भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद ने इसे खाद-पानी दिया। परिणाम यह हुआ कि आज राष्ट्रीय भावनाएँ बड़ी तेजी से अशक्त और निष्प्राण होती जा रही हैं। हम बेझिझक पश्चिम का अनुकरण कर अपनी अस्मिता खोते जा रहे हैं। कल तक यह प्रवृत्ति एक छोटे और प्रभावशाली तबके तक ही सीमित थी पर अब उसका फैलाव बड़ी तेजी से बढ़ता जा रहा है। आज हम सब इस बात से परिचित हैं कि संस्कृति आज की दुनिया में एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में उभर रही है। अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राष्ट्र और संस्थाएँ इसका खुलकर उपयोग कर रही हैं। यदि हम निष्ठा और प्रतिबद्धता से भारतीयता की तलाश करें, उसे पहचानें और आत्मसात करने की कोशिश करें तो उन पर रोक लग सकती है। पर यह कहने और लिखने में जितना आसान है उतना ही व्यवहार में जटिल भी है।

भारतीयता की पहचान का असल स्वरूप हमें उसकी वाङ्मय परंपरा अर्थात् साहित्य और शिल्प में देखने को मिलता है। इस पहचान के उद्घाटन के लिए हमारा

आर्ष चिंतन से परिचित होना जरूरी है। 'चिन्मय भारत' नामक पुस्तक में श्री राय ने आर्ष चिंतन के बुनियादी सूत्रों को स्पष्ट करने की कोशिश की है—“आर्ष से हमारा तात्पर्य 'वैदिक' मात्र या 'ऋषि दृष्टि प्रसूत' मात्र नहीं है। हम उस पूरी परंपरा को, जो ऋषि के अनुधावन से बनती है, आर्ष परंपरा मानते हैं। आर्ष से हमारा तात्पर्य उस समूची चिंतन परंपरा से जिसका प्रस्थान बिन्दु तो ऋषि ही है, पर अविच्छिन्न रूप में कालिदास, शंकराचार्य, रामानुज-वल्लभ-चैतन्य, संत और भक्त से होती हुई आधुनिक गाँधी-अरविंद तक आती है। बीज है ऋषि और भारतीय चिंतन का यह अश्वत्थ अभी तक विराजमान है। वृक्ष बीज के आधार पर ही नामांकित होता है। अतएव इस इतिहासव्यापी अखंड चिंतन परंपरा की संज्ञा आर्ष हो सकती है।” (चिन्मय भारत, पृ. 16-17)

आज जब समाज के सभी तबके—बुद्धिजीवी से लेकर साहित्यकार तक सभी सरकार-बाजार के पिछलग्गू बनने के लिए हर संभव प्रयास कर रहे हैं वैसे समय में श्री राय गंगातीरी पगड़ी बाँधे हुए कंधे पर लउर (लाठी) में भारतीयता का अमृत-घट लटकाये हुए आर्यावर्त से लगायत जंबूद्वीप-भरतखंडे की परिक्रमा करते हैं। इस बोध-परिक्रमा के लिए जिस अकुंठ साहस, निर्भयता, स्पष्टता और दो-टूकपन की जरूरत होती है वह कुबेरनाथ राय के लेखन में सर्वत्र मौजूद है। श्री राय ने भारतीयता के उदात्त तत्त्वों को न केवल आत्मसात किया है अपितु अपने निबंधों में इसकी गंभीर विवेचना भी की है। उनकी तर्कशक्ति अद्भुत है। इसे धार देने के लिए वे विज्ञान, नृत्यशास्त्र, भाषाविज्ञान, मिथक, इतिहास आदि अनुशासनों का यथासंभव सहारा भी लेते हैं। श्री राय किसी के विरोध या उपेक्षा से मुक्त सम्पूर्ण आर्यावर्त में शिव के साँड की तरह मुक्त विचरण करते हैं। सच तो यह है कि श्री राय अपने आत्मलब्ध सत्य के प्रति न केवल पूरी तरह ईमानदार हैं अपितु साहस के साथ उसकी अभिव्यक्ति भी करते हैं जिसका प्रथम और आखिरी सूत्र है—‘अहं भारतोऽस्मि’।

पुस्तक-समीक्षा

औपनिषद् नीति-दर्शन का दिग्दर्शन*

अम्बिका दत्त शर्मा**

प्रो. ए. जे. एयर ने जो पाश्चात्य नीतिशास्त्र के संस्थापक विद्वान् हैं, नॉवेल स्मिथ की प्रसिद्ध पुस्तक 'एथिक्स' की प्रस्तावना लिखते हुए नैतिक उपदेशक और नीति-दार्शनिक में स्पष्ट अन्तर को प्रस्तावित किया था। इस अन्तर को ध्यान में रखते हुए आचार-संहिता मूलक नैतिक चिन्तन और दार्शनिक नैतिक चिन्तन में स्वरूपगत महत्वपूर्ण अन्तर को भी रेखांकित किया जा सकता है। उपदेशात्मक नैतिक चिन्तन वह है, जो हमारे समक्ष विधि-निषेध परक एक व्यापक आचार-संहिता को प्रस्तावित करता है और साथ ही साथ उसके अनुपालन के लिए हमें प्रोत्साहित भी करता है। इसके विपरीत नैतिक-दार्शनिक चिन्तन हमारे समक्ष न तो किसी प्रकार की आचार-संहिता का प्रस्ताव करता है और न ही उस पर अमल करने के लिए हमें प्रोत्साहित करता है। वस्तुतः नैतिक दार्शनिक चिन्तन अपने स्वरूप में विश्लेषणात्मक और विमर्शात्मक होता है। उसका कार्य नैतिक निर्णयों के स्वरूप की विवेचना करते हुए उन विशिष्ट मानकों की खोज-बीन करना है, जो हमारे कर्मों के औचित्यानौचित्य के निर्धारण में सहायक होते हैं।

अब भारतीय नैतिक चिन्तन के स्वरूप को लेकर एक आम धारणा बनी हुई है कि भारत में आचार-संहिता मूलक नैतिक चिन्तन का एक लम्बा और समृद्ध इतिहास रहा है। वैदिक परम्परा के गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों और धर्मशास्त्रीय परम्परा के विभिन्न स्मृतियों एवं नीति-ग्रन्थों में विधि-निषेध मूलक आचार-संहिता के व्यापक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। भारतीय परम्परा की निज पदावली में इसे ही 'धर्म' कहा गया है। यह 'धर्म'

*समीक्ष्य पुस्तक—उपनिषदों का नीति-दर्शन, लेखक - सन्तोष आचार्य, प्रकाशक- प्राकृत भारतीय अकादमी, जयपुर मूल्य 250/- प्रथम संस्करण 2014.

**समीक्षक—प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003, मोबा. 9406519498

पद 'न्याय' संज्ञा से भी अनिहित हुआ है। यहाँ न्याय का तात्पर्य उन आचार-विधानों से लिया जाता है, जिनका प्रतिपादन विभिन्न समयों में मनु आदि स्मृतिकारों ने संसारवाद, कर्मवाद और ज्ञानमोक्षवाद जैसी सांस्कृतिक-आध्यात्मिक मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए किया है (धर्मो नाम न्यायः, किं नाम न्यायः, मन्वादिक प्रतिपादित आचारो नाम न्यायः)। परन्तु दूसरी ओर आलोचनात्मक स्वर में यह भी कहा जाता है कि भारतीय परम्परा में नैतिक दार्शनिक चिन्तन उस रूप से व्यवस्थित रूप में नहीं हुआ है, जितना व्यवस्थित रूप में इस प्रकार का चिन्तन ग्रीक दार्शनिकों अथवा आधुनिक युग के पाश्चात्य नैतिक चिन्तकों ने किया है। भारतीय नैतिक चिन्तन के प्रति इस प्रकार की आलोचनात्मक धारणा एक सीमा तक सही भी है, क्योंकि इसके भाजन के लिए जो कुछ किया जाना चाहिए था, वैसा कुछ किया नहीं जा सका है। भीखनलाल आत्रेय, एस.के. मैत्र, राजबली पाण्डेय और चन्द्रवरकार, जो भारतीय नीति के प्रथम कोटि के विद्वान् माने जाते हैं, ने बहुलांश में भारतीय नैतिक चिन्तन को आचार-संहिता मूलक नीति-चिन्तन के रूप में ही प्रस्तुत किया है। बाद के अधिकांश लेखकों, अध्येताओं ने इसी रूपरेखा का अनुकरण किया है। यद्यपि रामायण, महाभारत, गीता, धर्मशास्त्रीय परम्परा के स्मृतियों, नीतिग्रन्थों और यहाँ तक कि संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों में कर्तव्याकर्तव्य को लेकर गहन चिन्तन-मनन हुआ है और उनमें अनेकों ऐसे अर्थगर्भ-सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, जिनके अन्दर से भारतीय परम्परा का नैतिक दार्शनिक चिन्तन झाँकता हुआ प्रतीत होता है। गीता में श्रीकृष्ण जब विषाद ग्रस्त अर्जुन को समझाते हुए यह कहते हैं कि है : अर्जुन तुम कर्तव्य निर्णय के लिए जिस प्रतिज्ञा को आधार बना रहे हो कि कौन-कौन और कितने मरेंगे, यह कर्तव्य निर्णय के लिए आधार बनने योग्य ही नहीं है। प्रज्ञावान् व्यक्ति के लिए जीवन-मृत्यु के विचार का कोई महत्त्व नहीं है।

अशोच्यानन्व शोचस्त्वं प्रज्ञावादांच भाषसे।

गतानुसुगतासूच नानुशोचन्ति पण्डिताः।।

तो यह कोई अवसर प्राप्त कूटनीति अथवा परिस्थितिगत उपाय-कौशल मात्र नहीं, बल्कि घोर आर्थिक-राजनीतिक प्रकार की समस्या के प्रति एक तत्त्वमीमांसीय प्रतिपत्ति में मूलित सनातन नैतिक दृष्टि है और इस दृष्टि में भारतीय नैतिक चिन्तन को आधार प्रदान करने वाली दार्शनिक दृष्टि व्यावर्तक और सारभूत अर्थ में प्रतिध्वनित होती है। इतना ही नहीं कि ऐसी दृष्टि केवल गीता में ही उपलब्ध है। देखा जाए तो श्रमण परम्परा और यहाँ तक कि चार्वाक नीति भी एक तत्त्वमीमांसा को पूर्वगृहीत कर ही फलित हुई है। चार्वाक की प्रसिद्धि उक्ति 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेद्' एक नैतिक दृष्टि को प्रस्तावित करता है और यह नैतिक दृष्टि 'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः' से लक्षित होने वाली नितान्त भौतिकवादी तत्त्वदृष्टि से निगमित होती है। इसी

प्रकार ईशावास्योपनिषद् के मंत्र का यह भाग 'ईशावस्यमिदं सर्वम्' एक तत्त्वमीमांसीय अभिकथन है और उसका अन्तिम भाग 'तेनत्यक्तेन भुञ्जीथाः' उससे निगमित होने वाला नैतिक अभिकथन है।

समीक्ष्य पुस्तक 'उपनिषदों का नीति-दर्शन' में विदुषी लेखिका ने भी गतानुगतिक रूप से उपनिषदों के नीति-दार्शनिक चिन्तन और आचार संहिता-मूलक नीति चिन्तन को सम्मिलित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। लेखिका का यह प्रयास इस अर्थ में सराहनीय है कि भारतीय नैतिक चिन्तन पर विचार करते हुए औपनिषद् नैतिक दृष्टि पर गम्भीरता से विचार नहीं किया जाता है। यह मान लिया जाता है कि उपनिषदों में तत्त्वदृष्टि की प्रधानता है। लोक व्यवहार का नियमन और व्यवस्थापन उपनिषदों का नहीं, बल्कि स्मृतियों का प्रतिपाद्य है। परन्तु इस ग्रन्थ में अच्छी बात यह है कि उपनिषदों को केन्द्र में रखकर भारतीय नीतिशास्त्र पर विचार किया गया है। इतना ही नहीं, लेखिका का प्रयास यह भी दिखाने का रहा है कि किस प्रकार नीतिशास्त्रीय औपनिषद् अन्तर्दृष्टियों का सम्प्लव सम्पूर्ण भारतीय नीति चिन्तन में हुआ है। जहाँ कहीं भी ग्रन्थ में उपनिषदेतर ग्रन्थों को सन्दर्भित करते हुए नीतिशास्त्रीय समस्याओं पर विचार किया गया है, वहाँ भी लेखिका का प्रकट उद्देश्य औपनिषद् नीति-दर्शन को ही पुष्ट करना रहा है।

औपनिषद् नीति-दर्शन पर विचार करते हुए प्रथम दृष्टया हमें इस आलोचना का सामना करना पड़ता है कि औपनिषद् चिन्तन का पर्यवसान ज्ञानमोक्षवाद में होता है। यह नैतिकता की दृष्टि से एक अतिक्रमी स्थिति है। उदाहरण के लिए छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्मवेत्ता व्यक्ति पाप-पूण्य से ऊपर उठ जाता है। ये सभी उसका स्पर्श तक नहीं करते। संन्यासी और आत्मज्ञानी के लिए भी इसी प्रकार की बातें कही जाती हैं कि उन पर धर्म-अधर्म की कसौटियाँ लागू नहीं होतीं। स्वयं भगवद्गीता में भी यही दृष्टि देखी जा सकती है। जबकि कर्म विवेचन उसका मुख्य विषय है और उसे उपनिषदों का ही निचोड़ माना जाता है। श्रीकृष्ण अर्जुन को स्पष्ट निर्देश देते हैं कि तुम सभी धर्मों को छोड़कर मेरी शरण गहो तो एकबारगी सभी पापों से मुक्त हो जाओगे। इसी तरह देखा जाय तो निष्काम कर्मयोग की दृष्टि भी अन्ततः नैतिकता की अतिक्रमी ही प्रतीत होती है। एक और निष्काम भाव से किये गये कर्म पर उचित-अनुचित के साधारण मानदण्ड लागू नहीं होते तो दूसरी ओर निष्कामता की परिभाषा ही 'निस्त्रैगुण्य' के रूप में की जाती है। विदुषी लेखिका ने पुस्तक का पुरोवाक् लिखते हुए इस प्रकार की आलोचनाओं का दृढ़ता से सामना किया है। लेखिका का दृढ़ अभिमत यह है कि उपनिषदों का सम्पूर्ण नैतिक चिन्तन नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मन् के तत्त्वमीमांसीय सन्दर्भ में विकसित हुआ है। यही आत्मन् मनुष्य का पारमार्थिक स्वरूप है और नैतिक चिन्तन इसी आत्मा की स्वरूप-सिद्धि के साधन हैं। यदि देखा जाए तो भारतीय परम्परा के नैतिक चिन्तन में घटित हुआ यह एक

प्रस्थान मूलक परिवर्तन है। परन्तु लेखिका इस बात को स्पष्ट करने में किंचित् असमंजस की स्थिति में दिखाई पड़ती है—वह यह कि ऋत् मूलक वैदिक नीति चिन्तन किस प्रकार अपने ही ज्ञानकाण्ड उपनिषदों में आत्ममूलक नैतिक चिन्तन में रूपान्तरित हो जाता है। ऋत् मूलक वैदिक दृष्टि सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त एक नैतिक व्यवस्था को स्वीकार करती है। इसीलिए ‘देवं भूत्वा देवं यजेत’ इसका आदर्श है। देव ऋत् का उल्लंघन नहीं करते। उन्हें इसीलिए ऋत्विज कहा जाता है। परन्तु मनुष्य की स्वतंत्रता में ऋत् के विपरीत आचरण करने की सम्भावना निहित है। अतः ऋतानुगामी जीवन के द्वारा मनुष्य में उत्तरोत्तर देवतत्त्व का विकास ही वैदिक नीति चिन्तनका साध्य है। औपनिषद् नैतिक चिन्तन का लक्ष्य जीवात्मा की स्वरूप-सिद्धि है, क्योंकि वह स्वरूपतः नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मन् है। अतः संसारवाद, कर्मवाद और ज्ञानमोक्षवाद के व्यापक सन्दर्भ में विकसित हुए औपनिषद् नीति के केन्द्र में यही आत्मा है और उसके केन्द्रीभूत होने से ही औपनिषद् नीति चिन्तन को एक सबल तत्त्वमीमांसीय आधार प्राप्त होता है। ऐसा तत्त्वमीमांसीय आधार भले किसी को नैतिकता का अतिक्रमी प्रतीत हो, परन्तु है यह मनुष्य का ही पारमार्थिक स्वरूप और उसका विस्तार ‘आत्मवत् सर्वभूतेषु’ पर्यन्त है।

यदि जीवात्मन् की स्वरूप सिद्धि अर्थात् उसका ब्रह्मभाव को प्राप्त होना औपनिषद् नैतिक चिन्तन के लिए लक्ष्यभूत है तो उपनिषदों में जीवन और जगत् के प्रति वैराग्य और निवृत्तिवादी प्रवृत्ति का यत्र-तत्र दिखाई पड़ना स्वाभाविक ही है। इसीलिए लेखिका ने ग्रन्थ के प्रथम अध्याय ‘कर्मवाद के सिद्धान्त’ में विभिन्न उपनिषदों को सन्दर्भित करते हुए कर्मवाद की हेयता पर व्यापक विचार-विमर्श को प्रस्तुत किया है। वस्तुतः उपनिषदों की ऐसी दृष्टि के पीछे जो मूल मन्तव्य छिपा हुआ है, वह यह कि जीवात्मन् की स्वरूप-सिद्धि एक ज्ञानात्मक उत्कर्ष है और इस उत्कर्ष के प्रति कर्म की कोई साधकतम भूमिका हो ही नहीं सकती। मुण्डकोपनिषद् की भाषा में कहें तो जिस आत्मा की स्वरूप सिद्धि यहाँ लक्ष्यभूत है, वह अकृत है और अकृत को कृत से प्राप्त नहीं किया जा सकता। परन्तु लेखिका ने उपनिषदों में प्राप्त दूसरी दृष्टि को भी रेखांकित किया है। वह यह कि पुरुष का स्वरूप ही ‘क्रतुमय’ है। यह दृष्टि छान्दोग्य उपनिषद् में प्राप्त होती है। पुरुष को स्वभाव से ही कर्मशील मानकर कठोपनिषद् में ‘त्रि-नाचिकेत’ की जो व्यवस्था बनाई गई है, वह भी आश्रम व्यवस्था के साथ कर्मवाद को समायोजित करते हुए अनन्तः ज्ञानमोक्षवाद की ओर ही अग्रसर होती है। इस प्रकार उपनिषदों में कर्मवाद और ज्ञानमोक्षवाद में एक आन्तरिक तनाव अवश्य दिखाई पड़ता है, लेकिन लेखिका ने इसका समन्वय सफलता पूर्वक निष्कामकर्मवाद में दिखाया है। निष्कामकर्म की अवधारणा भारतीय नैतिक चिन्तन की एक विशिष्ट फलश्रुति है। इसका उत्स हमें ईशावास्योपनिषद् में ‘तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः’ में ही प्राप्त होता है, और इसी का पल्लवन बाद में गीता में हुआ है।

ज्ञानमोक्षवाद की औपनिषद् दृष्टि के चलते भारतीय नैतिक चिन्तन में एक और बड़ा परिवर्तन हुआ है। इस परिवर्तन को सैद्धान्तिक अपेक्षा की दृष्टि से पुरुषार्थ विषयक त्रिवर्ग की अवधारणा के बदले पुरुषार्थ-चतुष्टयी की स्वीकृति के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। ऋत्मूलक वैदिक नीति-चिन्तन की संगति धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ से बैठती है। परन्तु जीवात्मन् की स्वरूप-सिद्धि यदि औपनिषद् दृष्टि के लिए लक्ष्यभूत है तो मोक्ष को परमपुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया जाना आवश्यक हो जाता है। लेखिका ने औपनिषद् नीति-चिन्तन के इस पहलू की विवेचना पुस्तक के दूसरे अध्याय में किया है। यहाँ द्रष्टव्य है कि मोक्ष को परमपुरुषार्थ का दर्जा दिये जाने के बाद भी औपनिषद् दृष्टि श्रमण परम्परा की तरह घोर निवृत्तिवादी नहीं हो जाती है। पुरुषार्थों का श्रेय और प्रेय में विभाजित कर धर्म, अर्थ और काम को प्रेयस वर्ग में और मोक्ष को एकान्तिक रूप से श्रेयस वर्ग में रखना उपनिषदों का एक समन्वयवादी दृष्टिकोण ही कहा जाएगा। लेखिका ने औपनिषद् सम्मत पुरुषार्थों की जैसी विवेचना की है वह एक प्रचलित विवरण ही है। यदि इस विवरण में ‘पुरुषार्थ सन्तुलनवाद’ को भी सम्मिलित किया जाता तो पुरुषार्थ चतुष्टय के मूल्यात्मक पक्ष को मूलगामी रूप से उद्घाटित किया जा सकता था। वस्तुतः धर्म, अर्थ और काम के साथ मोक्ष को परमपुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किये जाने के बाद पुरुषार्थ चतुष्टयी में सन्तुलन की बात न की जाए तो पुरुषार्थ व्यवस्था एक सम्यक् जीवन-दर्शन हो ही नहीं सकती। इसके लिए लेखिका को “भारतीयता के सामासिक अर्थ-सन्दर्भ” नामक मेरी पुस्तक का ‘पुरुषार्थ सन्तुलनवाद’ नामक अध्याय अवश्य देखना चाहिए।

पुरुषार्थों का श्रेयस और प्रेयस वर्ग में विभाजित करने पर पाप-पुण्य की अवधारणा प्रेयस पुरुषार्थों का आनुषंगी-विचार बन जाता है। वेदों में मनुष्य के वैसे कर्म जो ऋत् का उल्लंघन करते हैं सबके सब पाप कोटि में आते हैं। इस ब्रह्माण्ड में मनुष्य लोक का जो परिक्षेत्र है, उस परिक्षेत्र के ऋत् के अधिष्ठाता वरुण हैं। अतः वरुण देव की इच्छा का उल्लंघन ही पाप है। इसी लिए वेदों में यह कहकर प्रार्थना की गई है कि हे वरुण! हम मनुष्यों के द्वारा देवताओं के साथ जो अभिद्रोह किया जाता है और असावधानी के कारण हम मनुष्यों द्वारा जो आपके धर्म का उल्लंघन हो जाता है, उन सब पापों के कारण हे देव! हमें हानि मत पहुँचाना। अब यदि पाप-पुण्य का विचार उपनिषदों के सन्दर्भ में करें तो परमपुरुषार्थ की दृष्टि से उपनिषदों का विचार पापपुण्यातीतवाद में पर्यवसित हो जाता है। इस दृष्टि से चेतना की बहिर्मुख प्रवाह और इन्द्रियों की पराश्रय प्रवृत्ति में सम्पादित होने वाले सभी कर्म पाप ही कहे जाएँगे। परन्तु प्रेयस पुरुषार्थों के लिए पाप-पुण्य विषयक यह पारमार्थिक दृष्टिकोण उचित नहीं है। अतः प्रेयस वर्ग के पुरुषार्थों के सन्दर्भ में पाप-पुण्य का लोकसम्मत विचार भी हमें उपनिषदों में प्राप्त होता है। इस पुस्तक के तीसरे अध्याय में लेखिका ने इसकी सुन्दर विवेचना प्रस्तुत की है।

इस पुस्तक के चौथे और पाँचवें अध्याय में क्रमशः लेखिका ने पुनर्जन्म और ईश्वर के प्रत्यय पर विचार किया है। ये दोनों बातें संसारवाद और कर्मवाद के सन्दर्भ में ही भारतीय नीति-चिन्तन की आवश्यक तत्त्वमीसांसीय पूर्वमान्यता के रूप में सामने आती हैं। औपनिषद् दृष्टि अविद्या को संसार (आवागमन का चक्र) का मूल कारण मानती है। परन्तु यह अविद्या अनादि होते हुए भी अनन्त नहीं है। चूँकि ज्ञान द्वारा अविद्या का नाश सम्भव है, इसलिए आवागमन के चक्र में उलझी हुई जीवात्मा अपने स्वरूप को सिद्ध कर संसार चक्र से छुटकारा पा सकती है। पुस्तक के चौथे अध्याय में 'पुनर्जन्म से मुक्ति की ओर' शीर्षक से लेखिका ने इस समस्या पर बड़ा ही समीचीन विचार प्रस्तुत करते हुए उपनिषदों के अन्तरार्थ को प्रकट किया है। परन्तु लेखिका द्वारा पुनर्जन्म की अवधारणा को वैज्ञानिक रीति से प्रमाणित करने के प्रयासों का कोई दार्शनिक औचित्य मुझे समझ में नहीं आता। वैज्ञानिक ज्ञान की आदर्शवत्ता का विस्तार इतना भी नहीं किया जाना चाहिए कि आध्यात्मिक और सांस्कृतिक पूर्वमान्यताएँ भी वैज्ञानिक सत्यापन की अपेक्षा करने लगे। अब जहाँ तक औपनिषद् नीति-दर्शन को सुगठित स्वरूप प्रदान करने के लिए ईश्वर के प्रत्यय का प्रश्न है तो इसकी सैद्धान्तिक आवश्यकता कर्माध्यक्ष के रूप में ही सामने आती है। कर्मवाद के अन्तर्गत एक नैतिक व्यवस्था के लिए यह जरूरी है कि कृत का प्रणाश और अकृत का अभ्युपगम न हो। यह व्यवस्था कर्माध्यक्ष ईश्वर की नियामकता में ही सम्भव है। लेखिका ने औपनिषद् सम्मत ईश्वर के प्रत्यय पर इसी दृष्टि से विचार पुस्तक के पाँचवें अध्याय में किया है। औपनिषद् चिन्तन में कर्माध्यक्ष ईश्वर की अवधारणा कर्मसाक्षी और कर्मफलदाता दो रूपों में की गई है। लेखिका ने कर्माध्यक्ष का विचार केवल कर्मफलदाता के रूप में ही किया है। यद्यपि ईश्वर को कर्मसाक्षी की भूमिका में देखना औपनिषद् दृष्टि का वैशिष्ट्य है।

इस प्रकार समीक्ष्य पुस्तक के पाँच अध्यायों (कर्मवाद का सिद्धान्त, पुरुषार्थ : सद्गुणों का विवेचन, पाप-पूण्य की धारणा, पुनर्जन्म और ईश्वर का प्रत्यय) में औपनिषद् नीति-दर्शन की एक अच्छी रूपरेखा तैयार की गई है। पुस्तक के छठे अध्याय में भारतीय नीति-मानदण्डों का सामान्य विवेचन किया गया है, जो दार्शनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यद्यपि यह विवरणात्मक है और सीधे-सीधे रामचन्द्र दत्तात्रेय राणाडे की पुस्तक 'उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण' से आहरित कर लिया गया है। इसमें दो राय नहीं कि अपने सम्पूर्ण विवेचन में लेखिका ने ज्ञानमोक्षवाद के सन्दर्भ में आत्मा की स्वरूप-सिद्धि को केन्द्र में रखकर औपनिषद् नीति-दर्शन को उद्घाटित करने का ईमानदार प्रयास किया है। जहाँ कहीं भी लोकसम्मत नैतिक व्यवस्था के प्रति औपनिषद् चिन्तन में लेखिका ने उदासीनता को देखा है, वहाँ उसने स्मृतियों, नीति ग्रन्थों और विशेषकर भगवद्गीता का सहारा लेकर औपनिषद् नीति-दर्शन के लोकसम्मत स्वरूप को भी पुनर्रचित करने का सार्थक प्रयास किया है।

संवाद की संस्कृति

नित्यानन्द श्रीवास्तव*

जिस दौर में हिन्दी साहित्य का पूरा परिदृश्य दक्षिण-वाम की निरर्थक कदमताल का शिकार बन रहा था, लगभग उसी दौर में 'कल्याण' के सम्पादक हनुमान प्रसाद पोद्दार आपने विराट् व्यक्तित्व से साहित्यकारों, मनीषियों, सन्तों-महात्माओं, राजनेताओं और कतिपय देशी-विदेशी विचारकों को एक ऐसा मंच प्रदान कर रहे थे, जहाँ परस्पर संवाद पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था, राग-द्वेष का कोई अर्थ नहीं था और कमाल तो यह था कि सबके अपने वैयक्तिक और सामाजिक कष्टों का निदान और समाधान भी वहाँ से प्राप्त होता था। कल्याण-सम्पादक पोद्दार जी प्रायः आत्मश्लाघा और आत्म-प्रचार से दूर रहकर साहित्य-सेवा में अहर्निश रत रहने वाले एक ऐसे तपस्वी थे, जिसका आत्म साधक मौन एक साथ बहुआयामी कल्याण साधन में रम-सा गया था। सम्भवतः यही कारण है कि पिछले सात-आठ दशकों में हिन्दी साहित्य के तथाकथित जगत में पोद्दार जी के साहित्यिक अवदान पर बहुत कम चर्चा हुई है। उनके व्यक्तित्व के अनुशीलन की बात से तो एक तरफ हमारी पीढ़ी के साहित्यानुरागियों को शायद आश्चर्य हो कि पोद्दार जी के देहावसान को भी अब लगभग पचास वर्ष होने जा रहे हैं।

हनुमान प्रसाद पोद्दार को 'भाई जी' उपनाम से जाना जाता रहा है। भाई जी के उदार, स्नेहिल, भावुक, आध्यात्मिक और दृढ़ व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप उनके सम्पर्क में आने वाले और रहने वाले व्यक्तियों पर पड़ती थी। ऐसे अनेक मौखिक वृत्त इस सम्बन्ध में प्रचलित हैं, किन्तु नई पीढ़ी के लोगों को उनके बहुआयामी व्यक्तित्व

*नित्यानन्द श्रीवास्तव हिन्दी विभाग, दिग्विजयनाथ पी.जी. कॉलेज, गोरखपुर, पत्राचार-मं.सं 785, उत्तरी जटेपुर, पो. बशारतपुर, गोरखपुर-273004

समीक्ष्य कृति : संस्कृति संवाद, सम्पादक : सदानन्द प्रसाद गुप्त, प्रकाशक : नीलकमल प्रकाशन, ए -119 आवास विकास कालोनी, शाहपुर गोरखपुर; मूल्य 350 रु.

का परिचय उन पत्रों से भी मिल सकता है, जिन पत्रों को उस समय के साहित्यकारों, मनीषियों और सन्तों-महात्माओं ने समय-समय पर उन्हें प्रेषित किया था। प्रत्युत्तर के पत्र और भाई जी द्वारा लिखे गए कुछ पत्रों की उपलब्ध प्रतियों में उस समय की ध्वनियाँ बहुत साफ सुनी जा सकती हैं। ऐसे ही कुछ महत्वपूर्ण पत्रों का संकलन-सम्पादन हिन्दी के ख्याति-लब्ध समीक्षक एवं चिन्तक आचार्य सदानन्द प्रसाद गुप्त ने किया है। आचार्य गुप्त अपने विद्यार्थी जीवन में भाई जी के बहुत निकट रहे हैं। भाई जी और उनके सहकर्मियों ने उन्हें जो प्रोत्साहन और सम्बल उस समय दिया; उसी स्मृति के भी कृतिरूप रूपान्तरण को इस संकलन 'संस्कृति संवाद' में अनुभव किया जा सकता है। पत्र-संग्रह को 'संस्कृति संवाद' कहने की भावना का विश्लेषण करते हुए आचार्य गुप्त कहते हैं, "सन्तों, विद्वानों राजनीतिक-सामाजिक जीवन में कर्मशील लोगों द्वारा उनको लिखे पत्र पोद्दार जी के नैतिक-सांस्कृतिक व्यक्तित्व की झलक देते हैं। ये पत्र युगीन दस्तावेज हैं, जिनका अपना महत्त्व है, स्वतन्त्रता-संघर्ष तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद की स्थिति स्वतन्त्रचेता व्यक्तियों की मनःस्थिति, उनकी दृष्टि एवं राष्ट्र निर्माण के उनके विजन का संकेत भी इन पत्रों में दिखाई पड़ता है। पोद्दार जी के साथ युग के शीर्ष हस्ताक्षरों के संवाद को निश्चय ही संस्कृति संवाद की संज्ञा दी जा सकती है।" इस पत्र-संग्रह 'संस्कृति संवाद' से पहले, भाई जी के सम्पादकीय वक्तव्यों का एक सम्पादित संकलन 'संस्कृति का कल्पतरु : कल्याण' हिन्दी साहित्य संसार को आचार्य गुप्त ने दिया है। इसके अलावा प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका 'समन्वय' (अनियतकालीन) का एक लम्बे अरसे तक सम्पादन भी उन्होंने किया है, जिसके कुछ महत्वपूर्ण विशेषांक विद्वानों द्वारा प्रशंसित हुए हैं। आचार्य गुप्त के लेखन का मुख्य क्षेत्र समालोचना का है, यद्यपि उन्होंने समय-समय पर कई भाव-प्रवण और विचारोत्तेजक कविताओं की रचना भी की है। इन कविताओं का संग्रह अभी प्रकाश में आना बाकी है।

'संस्कृति-संवाद' में 'पुरोवाक्' शीर्षक से 24 पृष्ठों की एक लम्बी परिचयात्मक भूमिका आचार्य गुप्त ने दी है और साथ ही समाज-जीवन के विविध कार्यक्षेत्रों से 116 मनीषियों के पत्रों के साथ-साथ भाई जी के कुल 23 पत्रों को संकलित किया है, जो अपने समय की धरोहर कहे जा सकते हैं। इनमें से कुछ पत्र, 'कल्याण' के साधारण एवं विशेषांकों पर दी गई सम्मतियों के सम्बन्ध में हैं, कुछ पत्र गीताप्रेस के अन्य प्रकाशनों एवं प्रकाशन योजनाओं के सम्बन्ध में हैं; कुछ पत्रों में लेखादि न दे पाने की विवशता है; कुछ में राजनैतिक-सांस्कृतिक चिन्ताएँ हैं; कुछ में आर्थिक सहायता का अनुरोध, व्यक्तिगत क्लेश के निवारण का आग्रह तो कुछ पत्रों में आत्मनिवेदन के साथ यह प्रबल विश्वास भी झलकता है कि भाई जी उनके सब प्रकार के कष्टों का समाधान कर सकते हैं। यहाँ यह बात रेखांकित करनी आवश्यक है कि ये सभी पत्र साधारण पाठकों के नहीं, बल्कि अपने समय के शीर्ष हस्ताक्षरों के हैं।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर (जिन्हें गुरुजी उपनाम से जाना जाता है) के साथ भाई जी के बहुत आत्मीय सम्बन्ध थे। श्री गुरुजी के कुल नौ पत्र 'संस्कृति-संवाद' में संकलित हैं। परस्पर स्वास्थ्य चिन्ता के साथ-साथ देश और समाज की परिस्थिति, समाज के विविध क्षेत्रों में चलाए जा रहे विविध कार्यक्रमों की जानकारी और कल्याण" के विशेषांकों पर दी गई सम्मतियाँ—इन पत्रों के मुख्य विषय हैं। 25-2-56 के पत्र में 'सत्कथा अंक' पर अपनी सम्मति श्रीगुरुजी ने जो लिखी है, उसमें सांस्कृतिक अधिष्ठान की उनकी दृष्टि का परिचय भी मिलता है, "कथाओं के संकलन में देशकालातीत दृष्टि रखकर दिक्कालाघनवच्छिन्न अनन चिन्मूर्ति श्री भगवान के ऊपर विश्वास तथा उसका साक्षात्कार ही जिस अपने समाज राष्ट्र जीवन की आधारशिला है, उसके अखिल मानवता को एकात्म भाव से आलिंगन देने के पवित्र भाव को आपने अति सहज एवं उत्तम रीति से प्रकट किया है।... (पृ. 148) इसी तरह 5-11-62 के पत्र में उन्होंने वनवासी बन्धुओं की सेवा में 'कल्याण-आश्रम' चलाने की सूचना भाई जी को दी है, उसका उद्घाटन भाई के कर कमलों से हो, इस प्रकार का अनुरोध किया है। साथ ही देश की विषम परिस्थिति और उसमें स्वयंसेवकों द्वारा चलाए जा रहे जन-जागृति के कार्यक्रमों की जानकारी भी दी है। "देश की संकटग्रस्त अवस्था तो स्पष्ट है। वह बहुत भयावह सिद्ध हो सकता है। हम लोग पूरी शक्ति से जनसाधारण को सतर्क एवं सावधान करने का प्रयास कर रहे हैं।" (पृ. 150)

दिनांक 09-09-34 को लिखे अपने एक पत्र में हिन्दी का "अभिमान मेरु" कहे जाने वाले आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने 'कल्याण' के 'शक्ति अंक' पर अपनी सम्मति देते हुए लिखा "महान कल्याण प्रवर्तक महर्षियों ने सत्त्व रज, तम नामक सुविदित प्रकृति गुणों को ध्यान में रखकर, अधिकारी भेद से, एक ही भव रोग के विभिन्न योग निर्दिष्ट किए हैं, जो मुख्यतः तीन ही श्रेणियों में विभक्त हो सकते हैं। इस नास्तिक युग में, जब लोग शुष्क जड़वाद में जर्जर हो रहे हैं और तर्कवाद की चट्टान से टकराकर श्रद्धालु छिन्न-भिन्न प्राय हो रही है तथा मत-मतान्तर—वैमनस्य का विष फैल रहा है—आपने महर्षियों के उस मर्म को समझकर 'शिव-अंक' के बाद 'शक्ति अंक' निकालकर बहुत उत्तम कार्य किया है। पृ. 40।

इसी तरह, 24.2.32 के अपने एक पत्र में जयशंकर प्रसाद ने अपनी अस्वस्थता के कारण लेखादि न दे पाने की बात की है, "अस्वस्थता के कारण मैं बहुत कम लिखता हूँ। इसलिए मैं कुछ भेज न सका।... ईश्वरांक कब तक निकलेगा? यदि हो सका तो कुछ लिखूँगा।" (पृ. 58) दिनांक 17.10.31 को लिखे अपने एक पत्र में निराला जी ने श्रीकृष्णांक की प्रशंसा करते हुए अपने स्वभाव के अनुरूप हिन्दी-लेखकों पर एक धारदार टिप्पणी की है, "जनाब, हिन्दी के धुरन्धर विद्वानों के लेख अपर प्रान्तीय के लेखों के मुकाबले वैसे ही चमक रहे हैं, जैसे ब्राह्मणों में चर्मकार।" (पृ.

241) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के कुल तीन पत्र इस संकलन में हैं। बोलपुर, शान्ति निकेतन से लिखे एक पत्र में ललित निबन्ध का आनन्द मिलता है।

इस संकलन में हरिवंश राय बच्चन के कुल नौ पत्र और तेजी बच्चन के दो पत्र संकलित हैं। इन पत्रों में व्यक्तिगत, पारिवारिक और अन्यान्य संकटों के बीच भाई जी को जिस तरह सम्बोधित किया गया है, वह एक अद्भुत भाव योग का संवाद है। कुछ पत्रों में आज हिन्दी सिनेमा के महानायक अमिताभ बच्चन के आरम्भिक जीविका के संघर्षों की सूचना भी दी गई है—भाई जी को राखी भेजने की बात और उनके तपस्वी मित्र राधा बाबा के प्रति प्रणति का भाव भी है।

‘कल्याण’ के सम्पादक-मंडल में अपने समय के उद्भट विद्वान थे। आचार्य गुप्त ने ‘पुरोवाक्’ में लिखा है—“कल्याण के सम्पादकीय विभाग के आरम्भिक सहयोगियों में विभिन्न क्षेत्रों के चूडान्त विद्वान थे। पं. चिम्पनलाल गोस्वामी, शान्तनुबिहारी द्विवेदी (बाद में स्वामी अखंडानन्द) नन्द दुलारे वाजपेयी, राजबली पांडेय, चन्द्रदीप त्रिपाठी, चन्द्रशेखर पांडेय, शान्तिकुमार, नानू राम व्यास, लक्ष्मण नारायण गर्दे, मुनिलाल गुप्त (बाद में स्वामी सनातन देव) जैसे समर्पित विद्वान ‘कल्याण’ के सम्पादकीय विभाग की शोभा रहे हैं।” इन सभी विद्वानों के पत्र-संवादों का संकलन भी ‘संस्कृति-संवाद’ में है।

अपने-आपको वाममार्गी कहने-समझने वाले हिन्दी के कुछ विद्वानों ने प्रेमचन्द को अपने पाले में खींचने का प्रयास भी किया है। ऐसे विद्वानों के लिए इस संकलन में दो पत्र संकलित हैं। एक पत्र 18/2/31 को हंस कार्यालय से लिखा गया है, इसमें प्रेमचन्द ने लिखा, “...यह एक धर्म-विषयक पत्रिका है और मैं धार्मिक विषय में कोरा हूँ। मेरे लिए धार्मिक तत्त्वों पर कुछ लिखना अनधिकार है। आप अधिकारी होकर मुझे अनधिकार सिखाते हैं। अब मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। ‘श्रीकृष्ण और भावी जगत’ यह प्रसंग मेरे अनुकूल है...।” (पृ. 108) इसी तरह 3/3/32 को लखनऊ से ही लिखे पत्र में ‘कल्याण’ के ईश्वरांक के लिए कहानी या लेख देने की बात है और भवदीय में ‘प्रेमचन्द’ की जगह ‘धनपत राय लिखा है। क्या हमें आज यह नहीं सोचना चाहिए कि ‘साहित्य के धरातल पर ‘दक्षिण’ और ‘वाम’ के भेदों का कोई अर्थ नहीं है और यह भी कि ये संवाद उन आधारहीन मतवादों को निरस्त भी करते हैं।

भाई जी का पत्र-संवाद भारतीय प्रज्ञ-परम्परा में स्नात कतिपय विदेशी विद्वानों से भी हुआ है। इनमें एडविन ग्रीव्स के छह पत्र, जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन एवं सी.एफ. एंड्रयूज के एक-एक पत्र तथा वारान्निकोव के तीन पत्र इस संकलन में संकलित हैं। 09/04/1930 को इंग्लैंड से लिखे अपने एक पत्र में एडविन ग्रीव्स ने हिन्दी का अभ्यास छूट जाने के कारण हिन्दी में लिखने के अपने संकोच को व्यक्त किया है; साथ ही अँग्रेजी में लिखना स्वीकार किया है। इसी में अनुवाद-कर्म की सीमाओं को उन्होंने रेखांकित भी किया है। अब तो गीता प्रेस के कई प्रकाशन अँग्रेजी सहित अन्य

कई भाषाओं में भी होने लगे हैं। हो सकता है; इस अनुष्ठान के पीछे ग्रीव्स महोदय के पत्र की भूमिका भी हो। इसी तरह 08, मार्च 1932 के पत्र में ग्रियर्सन ने अपने खराब स्वास्थ्य और आँखों के कारण लेख न दे पाने की विवशता व्यक्त की है।

‘संस्कृति संवाद’ में महात्मा गाँधी, राजेन्द्र प्रसाद, राधाकृष्णन, मोरारजी देसाई, और लालबहादुर शास्त्री जैसे अनेक राजनीतिक महत जनों के पत्रों के साथ-साथ प्रभुदत्त ब्रह्मचारी और वियोगी हरि जैसे सन्तों और सन्तमना महापुरुषों के पत्र भी संकलित हैं। प्रभुदत्त ब्रह्मचारी तो गीता प्रेस के नियमित लेखकों में से थे। ब्रह्मचारी जी की कई पुस्तकें गीता प्रेस से प्रकाशित हैं। इनके साथ वीतरागी साधुओं की अच्छी-खासी संख्या रहती थी। इनके कुल बाईस पत्र इस संकलन में हैं। संकलित पत्रों में किसी एक पत्र-लेखक की यह सर्वाधिक संख्या है। इन पत्रों में लेखन, प्रकाशन, साधन, भजन और देशकला की चर्चा के साथ इस बात का संकेत भी मिलता है कि भाई जी किस प्रकार लेखकों के योगक्षेम की व्यवस्था में कितने तत्पर थे।

बहरहाल, ये पत्र तो बानगी हैं उस भावधारा के सशक्त प्रवाह की जो भारतीय समाज की संवादप्रियता की साक्षी है। भवभूति ने संमनस्कता की बात की है तो गोस्वामी जी सुनने और बोलने वालों की ‘समशीलता’ का आख्यान करते हैं। भारतीय भाषाओं और भारतीय समाज-जीवन में इस ‘सम्’ उपसर्ग का जीवन्त संयोग है। वैदिक कवि भी ‘संगच्छध्वं संवदध्वं...’ की प्रार्थना करते हैं। अपने को और अपने समाज के समझने तथा वैश्विक धरातल पर ‘संवाद’ के मर्म से जुड़ने के लिए इस पत्र-संग्रह ‘संस्कृति संवाद’ का वाचन आवश्यक है।

गुजराती भक्ति साहित्य दयाराम : प्रेमभक्ति का चरमोत्कर्ष

क्रान्ति कनाटे*

दयाराम को मध्यकालीन गुजराती साहित्य (1450-1850) के अन्तिम श्रेष्ठ कवि के रूप में निर्विवाद स्वीकारा गया है। यह युग मूलतः भक्तिप्रधान था, सम्पूर्ण युग में प्रेमलक्षणा भक्ति का आधिपत्य रहा। भक्त नरसिंह मेहता से आरम्भ हुआ प्रेमरस दयाराम में अपने चरमोत्कर्ष पर है। उनका जन्म नर्मदा के तट पर स्थित पवित्र तीर्थक्षेत्र चंडीपुर (वर्तमान में चाणोद के नाम से प्रसिद्ध) में 1777 में प्रभुराम भट्ट के यहाँ नागर कुल में हुआ। मात्र बारह वर्ष की आयु में दयाराम के सिर से माता-पिता का साया उठ गया। कहा जाता है कि दयाराम अत्यन्त सुन्दर तथा मोहक व्यक्तित्व के धनी थे। उनका विवाह एक नागर कन्या गंगा से निश्चित हुआ था, किन्तु विवाह-पूर्व ही गंगा के अचानक हुए अवसान के कारण दयाराम आजीवन (निधन 1853) ब्रह्मचारी रहे। एक दुःखी सुनार विधवा रतन दयाराम के साथ लगभग पैंतीस वर्ष रही और अन्तिम समय तक उनकी सेवा तथा देखभाल सखाभाव से करती रही।

दयाराम ने गुजराती के अलावा हिन्दी, ब्रज, मराठी और संस्कृत में भी कुछ रचनाएँ लिखीं। वे उच्च शास्त्रीय-हवेली संगीत के जानकार थे। पुष्टि सम्प्रदाय के प्रति उनकी आस्था दृढ़ थी। उन्होंने प्रतिपादित किया कि ब्रह्म सत्य है और जगत भी सत्य है। उन्होंने जगत को असत्य, जीव ब्रह्म को एक तथा ब्रह्म को निर्गुण मानने वालों की निन्दा की। दयाराम को मूलतः ऊर्मिप्रधान कवि (गीतकार) माना जाता है। श्रीकृष्ण की भक्ति ही उनके जीवन का साध्य था और काव्य उसका साधन। अपनी उल्लेखनीय कृति 'रसिकवल्लभ' में उन्होंने केवलाद्वैत सिद्धान्त का खंडन तथा शुद्धाद्वैत सिद्धान्त का मंडन किया। गुरु-शिष्य संवाद के रूप में रची इस कृति में उनका पुष्टि साम्प्रदायिक तत्त्व-विचार तथा सम्प्रदाय निष्ठा प्रतिबिम्बित होती है।

*203, टॉवर-3, साईनाथ स्क्वेयर, मदर्स स्कूल के पीछे, जलाराम चौकड़ी, बड़ौदा 390021, गुजरात मो. 09904236430

दयाराम का रचना-संसार विविध और विपुल है। 'रुक्मिणी विवाह', 'सत्यभामा विवाह' 'ओखाहरण', 'श्रीकृष्ण जन्म खंड', 'पत्रलीला', 'रसलीला', 'कमललीला', उनके प्रसिद्ध आख्यान हैं तो 'प्रबोधभावनी', उनकी बोधात्मक कृति है। 'भगवद्गीता माहात्म्य' उनकी कथात्मक कृति है तो 'भुजंगप्रयात', प्रसंगवर्णनात्मक कृति है।

'अनुभवमंजरी', 'प्रत्यक्षानुभव', तथा 'स्वप्नानुभव मंजरी' में दयाराम के आध्यात्मिक अनुभव-शब्द चित्रित हैं। 'हनुमान-गरुड़ संवाद' विनोदात्मक रचना है। उन्होंने लावणी के ढब पर भी रचनाएँ लिखीं। दयाराम की कृष्णभक्ति और उनकी काव्यप्रतिभा उनकी 'गरबी' रचनाओं में अपने चरमोत्कर्ष पर है। गरबी कृष्ण-विषयक भक्ति श्रृंगार का आलेखन करती गेय रचनाएँ हैं जिन पर समूह-नृत्य किया जाता है। गरबी गरबे का ही एक प्रकार है किन्तु यहाँ विषय कृष्ण केन्द्रित होता है। दयाराम की गरबियों में गुजराती भाषा का असाधारण लालित्य और माधुर्य प्रकट हुआ है। दयाराम की गरबियों से गुजराती साहित्य समृद्ध तो हुआ ही है, गौरवान्वित भी हुआ है। दयाराम का प्रेमरस परम आनन्द की परम अनुभूति है। आलोचक डॉ. सुभाष म. दवे के अनुसार, "प्रेमरस का दयाराम रचित यह भावजगत गुजराती साहित्य का एक शाश्वत कीर्ति मन्दिर है। इस भावजगत की रमणीयता दयाराम के भाषाकर्म और संगीतकर्मज्ञता पर निर्भर है। उल्लास और आक्रोश, अलहड़ता और उपालम्भ, प्रसन्नता और खिन्नता के मनोभावों को अभिव्यजित करे ऐसी भाषा दयाराम का सृजनोन्मेष है।"

यहाँ अनूदित प्रथम रचना 'ब्रज प्यारा रे! बैकुंठ नहीं आना' में कवि का कृष्ण के प्रति असीम प्रेम और अपूर्व आकर्षण दृष्टिगोचर है। ब्रज प्रेम का तो बैकुंठ मुक्ति का प्रतीक है। ब्रज के एक रजकण पर वे चारों मुक्ति (सायुज्य, सारूप्य, सालोक्य तथा सानीत्य) निछावर करते हैं। आत्मनिवेदनात्मक इस भक्ति की महिमा अपरम्पार है। दास्य भाव से श्रीकृष्ण की भक्ति करने में ही कवि अपने जीवन की सार्थकता पाता है।

अनूदित द्वितीय पद 'बारमासी' काव्य है। यह भक्ति युग की एक लोकप्रिय विधा है। दयाराम ने बालाजी की, रसियाजी की और राधिका विरह की इस तरह तीन बारहमासी पद लिखे। यहाँ राधिका विरह की बारमासी प्रस्तुत है। प्रकृति वर्णन की पार्श्वभूमि पर यहाँ मनोभावों को प्रकट किया जाता है। गुजरातियों का नववर्ष कार्तिक प्रथमा से आरम्भ होता है अतः यह बारमासी भी कार्तिक ही से आरम्भ होती है। हर मास को एक बन्द समर्पित है। बदलती हुई प्रकृति के साथ नायिका राधा की बदलती मनोदशा का सुन्दर चित्र दयाराम ने खींचा है। हर बन्द की अन्तिम कड़ी 'सखी रे मेरी! बालमजी घर ना आये जी' से इस पद का नाद सौन्दर्य और भी बढ़ गया है। मूल कविता का शब्द-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य अनुपम है, अनूठा है। आश्विन मास वर्ष का अन्तिम मास माना जाता है, इस मास में नवरात्रि का उत्सव होता है। आनन्द,

प्रमोद और रास के इस मास में श्रीकृष्ण पधारते हैं और 'सखी रे मेरी! बालमजी घर आये आयेजी' पर यह समाप्त होता है।

प्रस्तुत तीसरा पद एक रूपक है। यहाँ अत्यन्त प्रतीकात्मक रूप से कवि ने अन्तिम समय का वर्णन किया है। यहाँ की यात्रा पूरी हुई, अब जहाँ जाना है वह परलोक नहीं है अपितु निजदेश, स्वपुर है अर्थात् ब्रजभूमि है। रास्ते में जो लुटेरे दो-चार बैठे हैं वे लोभ, मोह, मत्सर, क्रोध, काम जैसी ही भावनाएँ हैं अतः उनसे निपटने के लिए हमें भी अपने साथ पहरेदार (यहाँ तात्पर्य संयम और व्रत से है) रखने होंगे। जो भेदिया मिला है वे असल में गुरु (श्री महाप्रभु) हैं जो रास्ता पार करने के सारे भेद बताते हैं। जीवन का सारा व्यवहार श्रीकृष्ण के नाम पर करके स्वयं निमित्त मात्र बने रहने में ही अपनी भलाई भी है और सार्थकता भी।

दयाराम ने अन्तिम बेला पर अनेक पद लिखे। अन्तिम प्रस्थान के उनके पद बेजोड़ माने जाते हैं। अत्यन्त कृतार्थ भाव से वे इस जीवन से विदा लेते हुए अपने शिष्यों/भक्तों से कहते हैं, “मारा मरणनो शोक नहोय, तमे मारो ओच्छव (उत्सव) करजो।”

1. ब्रज प्यारा रे

ब्रज प्यारा रे! बैकुंठ नहीं आना,
भाये न मुझे चतुर्भुज होना,
वहाँ श्रीनन्दकुंवर कहाँ से लाना? ब्रज प्यारा रे!

चाहिए ललितत्रिभंगी* मुझे गिरधारी,
संग चाहिए श्रीराधा प्यारी,
बिन उनके जुड़े ना आँख हमारी। ब्रज प्यारा रे!

वहाँ श्रीजमुना गिरिवर हैं नहीं,
मुझे आसक्ति बहुत इन दोनों की,
बिन इनके प्राण प्रसन्न रहे नहीं। ब्रज प्यारा रे!

वहाँ श्रीवृन्दावन रास नहीं,
ब्रजवनिता संग विलास नहीं,
विष्णु वेणु वादन का अभ्यास नहीं। ब्रज प्यारा रे!

*त्रिभंगी—खड़े होने की वह मुद्रा जिसमें पाँव, कमर और गर्दन कुछ-कुछ टेढ़े रहते हैं (यहाँ कृष्ण की बाँसुरी बजाने की मुद्रा से तात्पर्य है)।

जहाँ वृक्ष-वृक्ष पर वेणुधारी,
पात-पात हैं हरी भुजचारी,
एक ब्रजरज पर चौमुक्ति* वारी। ब्रज प्यारा रे!

जहाँ बसने शिव सखीरूप हुए,
अज अब भी ब्रजरज को तरसते,
उद्धव-से वे तृण कृष्ण हुए। ब्रज प्यारा रे!

सुख स्वर्ग का कृष्ण बिना कड़वा,
मुझे न भाये ब्रह्मसदन सूना,
धिक सुख! जिसे पाना फिर लौटना! ब्रज प्यारा रे!

क्या करूँ श्रीजी! मैं सायुज्य** पाकर?
एकता में जो तुम न रहो स्वामी!
दासत्व में भला मुझे क्या खामी? ब्रज प्यारा रे!

ब्रजजन बैकुंठ सुख देख लौटै,
न भाया तो ब्रह्मानन्द में लीन हुए,
घर स्वरूपानन्द सुख अति भाये! ब्रज प्यारा रे!

गुरुबल से गोकुलवासी होंगे,
श्रीवल्लभशरण में नित्य रहेंगे,
'दया' प्रीति के रसयश गायेंगे! ब्रज प्यारा रे!

2. राधिका विरह की बारहमासी

कार्तिक मास सखी! मुझे छोड़ गये कन्ध रे,
मैं तो देखूँ पियुजी का पल-पलपन्थ रे,
विरह बढ़े गाते गुणग्रन्थ रे, राधा कहे,
सखी रे मेरी! बालमजी घर ना आये जी।

अगहन मास सखी! मन्दिर खाने दौड़े रे!
मुझे कहीं कुछ ना सुहाय रे, बालम बिना,

*चौमुक्ति—सायुज्य, सारूप्य, सालोक्य, सानीत्य।

** सायुज्य—वह मुक्ति जिसमें जीवात्मा परमात्मा में लीन हो जाता है।

मोहे पलक कल्पसम लागे रे, कहूँ किसे?
सखी रे मेरी! बालमजी घर ना आये जी।

पौष मास पियुजी परदेस रे, सखी मेरी,
मैं तो अकेली कैसे रहूँ रे, इस ऋतु में,
देखो ना खिलता, मेरा जोवन जलाये वेश रे;
सखी रे मेरी! बालमजी घर ना आये जी।

माघ में मन मिलने को अकुलाय रे, अलबेले से,
ढाँकू, जलता कलेजा, दुख किसी को ना कहा जाये रे;
मेरे दिन-रात रोते हुए जायें रे, बालम बिना,
सखी रे मेरी! बालमजी घर ना आये जी।

फागुन अबीर गुलाल रंग में भीगे, केसर उड़े,
श्याम बिना सूनी पड़ी रे टोली, सहेली मेरी,
मेरे हियरा में प्रकटी रे होती विरह की,
सखी रे मेरी! बालमजी घर ना आये जी।

चैत्र चन्द्र-चन्द्रिका खिली रे वृन्दावन में,
बेल, वृक्ष, लता झूले रे, जमुना जी में,
मेरा देखने का सुख भी गया रे, प्रीतम बिना,
सखी रे मेरी! बालमजी घर ना आये जी।

बैसाख में सारा ब्रज सूना लागे रे, बालम बिना,
मुझे विरह बाण उर में लागे रे, कहूँ किसे?
मेरा यह दुख किसी से ना जाये रे, कृष्ण बिना,
सखी रे मेरी! बालमजी घर ना आये जी।

जेठ मास ताप बढ़ा लगे रे कलेजे में,
बालमजी ने सौतन की सुभागी रे, सुनती हूँ सखी!
हम सब ठहरे अभागे रे, नटवर बिना,
सखी रे मेरी! बालमजी घर ना आये जी।

असाढ़ मास में घन गरजे रे गगन में, कहूँ किसे?
मोहन बिना मेरा मन धधके रे, कहूँ किसे?

मैं पीड़ा झेलूँ, प्रभु को लाज ना आये रे, वर्षा ऋतु!
सखी रे मेरी! बालमजी घर ना आये जी।

सावन मास झड़ियाँ बरसे रे सखी! मेरा
मन बढ़ा तरसे रे मिलने मोहन को,
दसों दिशाएँ देखूँ, कहीं ना दिखे दामोदर जी,
सखी रे मेरी! बालमजी घर ना आये जी।

भादों में बिजली दमके रे सखी! देखो ना,
शोभा देखते आँखों से आँसू छलके रे, कलेजा जले,
मानो प्रभु का पीताम्बर झलके रे, ऐसा लगे,
सखी रे मेरी! बालमजी घर ना आये जी।

अश्विन मास तो रचने लगा रास रे, प्रियतम आये,
प्रिय ने पूरी की सब गोपियों की आस रे, आनन्द बढ़े;
जन एक 'दया' कृष्ण का दास रे, हाथ जोड़कर गाये,
सखी रे मेरी! बालमजी घर आये जी।

3. मनजी! मुसाफिर रे!

मनजी! मुसाफिर रे! चलो निजदेश की ओर!
देश बहुत देखा रे! मुसाफिरी हो गयी बहुत!

स्वपुर जाने का पन्थ आया, न भूलना भाई!
फिर से रास्ता मिलेगा नहीं, ऐसी तो है कठिनाई,
समझकर सीधे रे! ना जाना दाहिने के बाएँ! मनजी!

बीच इस रस्ते लुटेरे मारने बैठे हैं दो-चार,
तुम भी रखो कुछ एक पहरेदार, तब न होगा उनका भय,
मिला है एक भेदिया रे! उसने बतायी सब गत। मनजी!

अब सौदा करो सेठ के नाम से, न होगी कहीं रुकावट,
अपने नाम में खतरा है, भाये दानी* को दाँव-पेंच,

*दानी—यहाँ दानी का अर्थ कर वसूल करने वाले से है।

तभी तो अच्छा है! ना बनो सौदे का मालिक। मनजी!
देखो युग से गुजरना है, करो सम्हलकर काम,
दास 'दया' को यही चाहिए अब पहुँचे निज धाम,
लगता है अब ऐसा रे! पूरी हो गयी अवधि अपनी। मनजी!

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. दयारामनां काव्यो (डॉ. सुभाष दवे)
2. मध्ययुगीन ऊर्मिकाव्यो (चिमनालाल त्रिवेदी, बलवंत जानी, चिनु मोदी)
3. गुजराती साहित्यकोश खंड 1 मध्यकाल (जयन्त कोठारी, जयन्त गाडीत)
4. गुजराती साहित्यनो इतिहास ग्रन्थ 2 (उमाशंकर जोशी, अनन्तराय रावल, यशवन्त शुक्ल)।

रपट

आस्था भारती वार्षिक व्याख्यान

आस्था भारती ने वार्षिक व्याख्यान माला प्रारंभ करने का निर्णय लिया, जिसमें देश से जुड़े विभिन्न गहन विषयों एवं समस्याओं पर विचार विमर्ष हो सके। तदनुसार प्रथम वार्षिक व्याख्यान दिनांक 8 मई, 2016 को प्रोफेसर समदोंग रींपोचे ने दिल्ली के इण्डिया इंटरनेशनल सेन्टर में दिया। विषय था “आधुनिकता एवं परम्परा”।

डॉ. जयन्त माधव, अध्यक्ष, आस्था भारती, ने इस कार्यक्रम की अध्यक्षता की। प्रो. समदोंग रींपोचे प्रख्यात बौद्ध विद्वान हैं। नालन्दा परम्परा से जुड़े रहने के कारण उनको भारतीय परम्पराओं का प्रचुर ज्ञान है। अपने लम्बे शैक्षिक एवं आध्यात्मिक यात्रा में इनकी कई प्रमुख भारतीय चिन्तकों से गहन संबंध एवं मित्रता हुई, जिनमें जिदू कृष्णामूर्ति, रैमन पनिकर, प्रो. ए. के. सरन एवं कृष्णनाथजी प्रमुख हैं। प्रो. रींपोचे ने कई महत्त्वपूर्ण सामाजिक एवं राजनीतिक पद भी सम्भाले हैं। विदेश स्थित तिब्बतन सरकार के वे प्रथम निर्वाचित प्रधानमंत्री (कलोन त्रिपा) थे (2001-2011)। वे सेन्ट्रल इस्ट्यूट आफ हायर तिब्बतन स्टडीज, सारनाथ (डीम्ड विश्वविद्यालय) के निदेशक एवं कुलपति रहे हैं। इस समय वे साँची विश्वविद्यालय (इण्डिक एवं बुद्धिष्ट स्टडीज, मध्य प्रदेश) के चांसलर हैं।

प्रो. रींपोचे ने अपने प्रारम्भिक भाषण में कहा कि परम्परा की कोई प्रामाणिक एवं शास्त्रीय परिभाषा नहीं है। प्रायः पुराने रीति रिवाज, प्रथा एवं पद्धतियों को हम परम्परा मान लेते हैं, उन्हें विशेषकर जो समाज के लिए हितकारी हों। परन्तु प्रगतिशील एवं आधुनिक विचारक इसको नहीं मानते। इस बात पर दोनों ही मत त्रुटिपूर्ण हैं। परम्परा की सही परिभाषा के लिए उन्होंने कुमारस्वामी द्वारा त्रिभागीय विवरण की संस्तुति की। प्रथम यह ज्ञान दैविक-श्रोत से आना चाहिए; द्वितीय, वह प्रामाणिक श्रोत परोक्ष होना चाहिए; तृतीय, उसे तर्क, विवेक एवं सामान्यज्ञान के द्वारा परखा जा सके। उन्होंने जोर देकर कहा कि पूर्व निहित मानसिकता एवं सोच से अलग हटकर परम्परा को मानने से पहले उसका विश्लेषण एवं परीक्षा कर लेना चाहिए, चाहे वह स्वयं भगवान बुद्ध से ही क्यों न प्रतिपादित हो। प्रो. रींपोचे ने “ज्ञान” एवं “मानना या मान्यता” में भी भेद किया। उन्होंने कहा कि किसी भी ज्ञान को बिना परीक्षा, तर्क

एवं विश्लेषण के मान लेना अंधविश्वास है। उन्होंने फिर कहा कि आजकल शिक्षा संस्थानों में यही हो रहा है कि जो कुछ पुस्तकों में लिखा उसे बिना परीक्षा के मान लो।

प्रो. रीपोचे ने कहा कि एक सच्ची परम्परा मानव जाति के लिए हितकारी होनी चाहिए, क्योंकि अहितकारी परम्परा सही नहीं हो सकती। महात्मा गांधी ने स्पष्टतः कहा था कि परम्परा को जनहित में भी होनी चाहिए। अस्पृश्यता का उदाहरण देते हुए गांधीजी ने कहा था कि यह एक सामाजिक कुरीति है, जिसे सम्पूर्ण रूप से नकारा जाना चाहिए। यदि इसका मूल किसी धार्मिक ग्रंथ से भी जुड़ा हो, तो उन्हें उस धार्मिक ग्रंथ को भी नकारने में जरा भी हिचकिचाहट नहीं होगी। प्रो. रीपोचे ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि हमें उन सामाजिक कुरीतियों तथा प्रथाओं से परहेज करना चाहिए जो लम्बे अरसे से चले आ रहे हैं। उनको परम्परा की श्रेणी नहीं दी जा सकती।

उन्होंने कहा कि प्रारम्भ में जब उनसे कहा गया कि तिब्बत चीन के कब्जे में इस कारण चला गया क्योंकि वह पिछड़ा देश था तथा आधुनिकता से परे था, तब उन्होंने इस बात पर विश्वास कर लिया था। किन्तु बाद में वाराणसी में रहने के दौरान उन्होंने पाया कि भारत में आधुनिकता की अधिक बात के बावजूद प्राचीन भारतीय परम्परा अभी भी इस देश के विद्वानों में जीवन्त है, जैसे कि जिदू कृष्णामूर्ति, ए.के. सरन, प्रो. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि में। इस तरह उन्होंने इस तर्क को नकार दिया कि तिब्बत के आहत होने का कारण आधुनिक नहीं होना था।

प्रो. रीपोचे ने आधुनिकता को परिभाषित करते हुए कहा कि उसके तीन प्रमुख लक्षण हैं, नवीनता, स्वयं-सिद्धता, तथा हिंसा। आधुनिकता अपने को परम्परा से भिन्न मानती है, तथा चाहती है कि उसके मान्यताओं को बिना किसी विश्लेषण एवं परख के मान लेना चाहिए। उन्होंने कहा कि आधुनिकता किसी प्रकार की प्रक्रिया एवं यथार्थ से असम्बद्ध है, तथा अपने को स्वयं सिद्ध मानती है। उन्होंने एक बार फिर गांधी जी को, जो आधुनिकता को ठीक से समझते थे, का हवाला दिया। गांधीजी, आधुनिकता को एक रंगीन स्वप्न मानते थे, जो निद्रा टूटने पर भंग होजाता है तथा उसका असत्य रूप सामने आ जाता है। प्रगतिशीलता एवं आधुनिकता के प्रशंसकों का मत है कि किसी भी मत या कार्य को जो पुरातन तथा पारम्परिक हैं उसे नकार देना चाहिए। उन लोगों के अनुसार आधुनिक एवं प्रगतिशील कहलाए जाने के लिए यह आवश्यक है।

इस मुद्दे पर प्रो. रीपोचे ने, कुरीतियों से बचने की सलाह देते हुए कहा कि, बिना आधुनिकता के समाज में कैसे जिया जाए, यह एक चुनौती है। आधुनिकता के साथ समझौता कर तथा उसमें निहित हिंसा को सम्मिलित कर चलने की भावना की विवशता को समझने तथा उसे दूर करने की आवश्यकता है। इस विवशता के मूल में हैं “मैं” और “मेरा हित”। हम आधुनिकता के दोषों से तभी मुक्त हो पाएँगे जब यह दृष्टिकोण बदलेगा।

प्रो. रीपोचे ने कहा कि यह एक चिंता का विषय है कि आधुनिकता ने मानवता के प्रति हमारी संवेदनशीलता को कुंठित कर दिया है। साथ हमने सत्य एवं यथार्थ को परखने की दृष्टि भी खो दी है। यह कह कर कि कोई भी मान्यता जो पारम्परिक है वह पिछड़ापन है, उन्होंने मानव जीवन में जो संतुलन था, उसे हानि पहुँचाई है।

उनका मानना है कि परम्परावादियों तथा आधुनिकतावादियों को जीवन में संतुलन तथा संवेदनशीलता को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। उनके अनुसार आधुनिक विज्ञान में उन बदलाव के लक्षण दिख रहे हैं। विज्ञान अब कई क्षेत्रों में तिब्बती ज्ञान एवं बौद्धिक शक्ति को मानने लगा है। इन क्षेत्रों में, विशेषकर जो चित्त (mind) से जुड़े हैं, उनमें सुधार करना चाहता है। प्रो. रीपोचे चाहते हैं कि कुछ विषयों में, जैसे, गणित, चिकित्सा, अर्थशास्त्र एवं दर्शन के क्षेत्रों में, पारम्परिक ज्ञान पर शोध होना चाहिए।

भाषण के पश्चात बहुत दिलचस्प प्रश्न हुए, विशेषकर वास्तविक जीवन में पारम्परिकता की पहचान पर। परम्परा का पुनः विश्लेषण करते हुए प्रो. रीपोचे ने जोर दिया कि किसी भी परम्परा को वैसे ही नहीं मान लेना चाहिए, तथा उसको प्रामाणिकता, तर्क तथा जनहित की कसौटी पर शोध कर ही स्वीकार करना चाहिए, फिर परम्पराएँ प्रथाओं और पद्धतियों में भेद करना चाहिए।

कार्यक्रम के अन्त में डॉ. लता सिंह, सचिव, आस्था भारती ने प्रो. रीपोचे एवं श्रोताओं के प्रति आभार प्रकट करते हुए उन्हें धन्यवाद दिया।

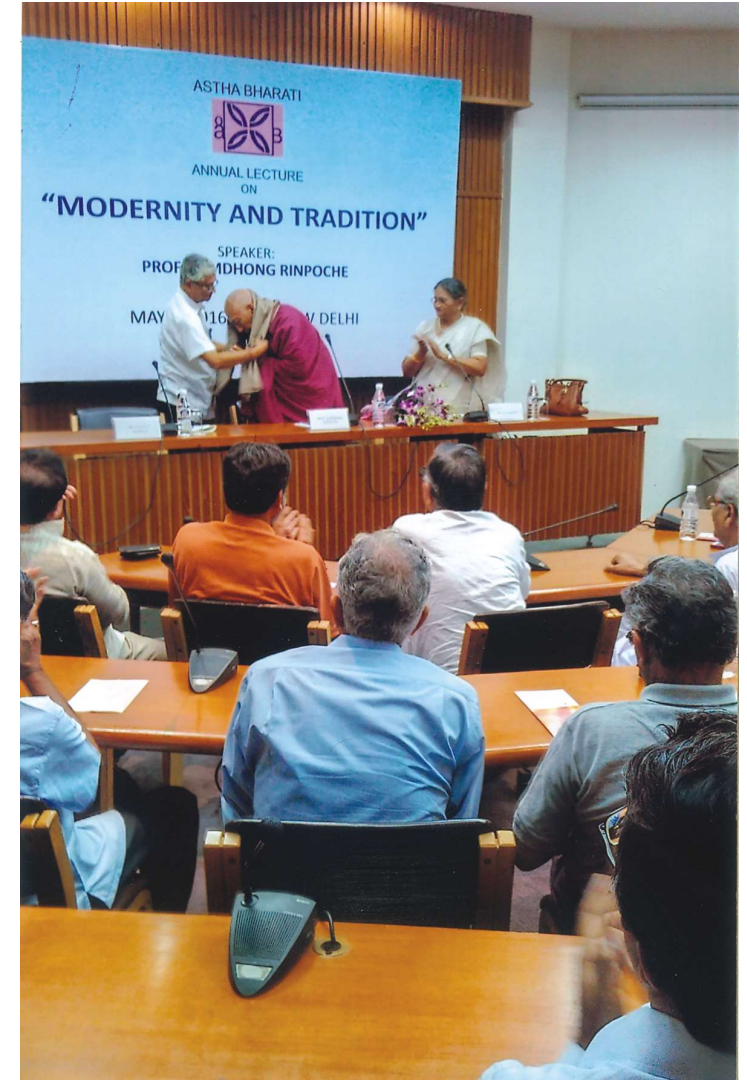
—ज.ना. राय



डॉ. जयन्त माधव, प्रो. समधांग रींपोचे, डॉ. लता सिंह मंच पर।



प्रो. रींपोचे (बाएं से तीसरे), जे.एन. राय, कोषाध्यक्ष आस्था भारती, डॉ. लता सिंह, सचिव आस्था भारती, डॉ. ब्रज बिहारी कुमार, सम्पादक डायलाग/चिन्तन-सृजन एवं श्री पवन कुमार गुप्त, सिद्ध, मसूरी।



डॉ. जयन्त माधव, प्रो. रींपोचे को शाल अर्पण करते हुए।

पाठकीय प्रतिक्रिया

हमें अजीब सा अनुभव होता रहा है कि जिनको पत्र लिखने की हमारी लालसा सालती रहती है तथा जिन पत्रों को अविलम्ब प्रेम से उँडेलकर तत्काल लिखने की आवश्यकता महसूस करता हूँ, अक्सर उन्हें अंजाम नहीं दे पाता। सम्प्रति, मेरे समझ 'चिन्तन-सृजन' के वर्ष-12 अंक 3 तथा 4 एवं वर्ष-13 अंक 1 मौजूद हैं। इन अंकों की लोकप्रिय सर्जनात्मक संरचनाओं में प्रतिभान्वित नवोन्मेषशालिनी प्रतिभाओं से प्रतिभासित आलेखों का जो स्तर है, वह निस्संदेह राष्ट्र की नवचेतना का नूतन मार्मिक उद्गार है, सर्वथा मौलिक। आलेख तो आलेख, ऊपर से प्रेरक सम्पादकीय टिप्पणियाँ। लेखकों को दिशा-निर्देशन तथा नित-नूतन प्राण को स्पन्दित करने में आपने कोई कोताही नहीं बरती है। सोना में सुहागा। स्वदेशाभिमान से भावित सम्पादकीय कर्तव्यपरायणता के बेहिचक निर्वहण में आपकी पूर्ण-दक्षता एवं क्षमता श्लाघनीय है। तब हमें क्यों न याद आएँ; स्वनामधन्य भारतेन्दु, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, गणेश शंकर विद्यार्थी, महामना मालवीय जी, श्री नारायण चतुर्वेदी, तिलक, अरविंद, शिवपूजन सहाय, बेनीपुरी, सुधांशु आदि आपके प्रेरणास्रोत?

उनकी जिह्वा पर सरस्वती बिराजती थी। लेखनी की नोंक निर्भीकता के साथ राष्ट्रीय चेतना की ज्वाला उगलती थी। असल में जो पत्रकार विचारों की स्वाधीनता, राष्ट्रीय 'स्व' के प्रति निष्ठा और प्रतिबद्धता तथा सर्वभूतहितरत की मंगल संकल्पना से प्रेरित होकर लिखते हैं, वे मामूली किस्म के सिक्के नहीं होते। पुरस्कारों और उपहारों के प्रलोभन से उन्हें कोई प्रभावित नहीं कर सकता। विदेश-यात्राओं की सुविधाएँ प्रदान कर आयातित विचारों के प्रभाव में लाने की कोई कुचेष्टा और धृष्टता, नहीं कर सकता। उन्हीं पत्रकारों की गौरवशाली परम्परा में विनत भाव से आपका भी स्मरण करता हूँ। जिन बंधनमुक्त स्वच्छन्द प्राज्ञ पुरुषों की बिमल कीर्ति का गान संसार गा रहा है, उन जीवनमूल्यों को साहित्य के माध्यम से परोसने और उनके सपनों के अनुरूप भारत के निर्माण में महनीय अवदान प्रदान करनेवाले मंगलमय लेखन की हम विजयकामना करें। वीर प्रसू को, भारतभू को, पाप-ताप से अभय करें। यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं, कि भारतेन्दु-मंडल की भाँति ही आप भी एक सारस्वत लेखन मंडल से सुशोभित हैं।

कदाचित् किसी पाठक की नजर से सद्यः चर्चित 'चिन्तन-सृजन' के तीनों अंक ओझल न हो पाएँ, अतएव इन अंकों के नाम 'सम्पादकीय शीर्ष' सहित उल्लिखित कर रहा हूँ:

सर्वप्रथम 'चिन्तन-सृजन' के वर्ष 12, अंक-3 के सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीय समस्याओं की सूझ के अन्तर्गत अवैध बंगलादेशी द्वारा दीमापुर में बलात्कार का दारुण विश्लेषण है। वस्तुतः पूर्वोत्तर भारत में घुसपैठ की समस्या लोगों के जीवन-मरण और अस्तित्व की समस्या बनकर उभरी है। जबतक हमारे देशवासी बंगलादेशी घुसपैठियों के खतरे से उबरने का प्रयत्न नहीं करेंगे—तब तक हमारी महिलाओं एवं बेटियों के प्रति इन लोगों का अपराध बढ़ता ही जाएगा। इसका बहुत बड़ा कारक 'वोट बैंक' की राजनीति रही है। इसी के तहत अवैध घुसपैठिए पूर्वोत्तर भारत में बसाए जाते रहे हैं।

पत्रिका के वर्ष 12, अंक-4 के सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य में मोदी सरकार के एक साल के लेखा-जोखा का आकलन करते समय देश के उन तत्वों से सावधान भी किया गया है, जो देश में निराशा का वातावरण बनाना चाहते हैं। वे अच्छे दिन की प्रतीक्षा में 68 साल गुजार सकते हैं, 68 सप्ताह नहीं। जबकि, यह बात साफ है कि भारतीय राजनीति में उनको स्थानापन्न करनेवाला कोई नजर नहीं आता। एक बात जो प्रधानमंत्री मोदी को दूसरे प्रधानमंत्रियों से अलग करती है, उनके द्वारा शुरू किए गए जन अभियान हैं — 'स्वच्छता अभियान', 'जन-धन योजना अभियान' तथा विश्वमंगल हेतु 'भारतीय सांस्कृतिक अवदान'।

वर्ष 13, अंक-1 की सम्पादकीय टिप्पणी में अमर्त्य सेन की बौखलाहट पर एवं हमारे शिक्षातंत्र की वास्तविकता पर योग्य प्रकाश डाला गया है। सेन अपने अर्थशास्त्र के ज्ञान की सीमा लगातार लौंघकर पिछले 15 वर्षों से धर्म, दर्शन, इतिहास, कला, संस्कृति, राजनीति और भाषा के विषयों पर अपने ज्ञान बधारे रहे हैं।

इन अंकों के शेष आलेख भी राष्ट्र की नव मौलिक चेतना से आपूरित होकर 'चिन्तन-सृजन' की गरिमा को परिपुष्ट कर रहे हैं। 'पंकज' जी ने शिक्षा के क्षेत्र में इतिहास विषय को लेकर व्याप्त विकृतियों और परानुकरण की कुवृत्तियों पर कड़ा प्रहार कर तथाकथित बुद्धिजीवियों को झकझोर डाला है, जो अंग्रेजों के जाने के 68 साल बाद भी हमारी मानसिकता का मंथन करने में समर्थ है। अस्तु। - डॉ. भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता, पूर्व राष्ट्रीय साहित्य सचिव/ उपाध्यक्ष एवं सम्प्रति, सदस्य, केन्द्रीय न्यास, अखिल भारतीय साहित्य परिषद्, मटियारी, जिला सुपौल-854339 (बिहार)

जनवरी-मार्च 2016 अंक अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण और दिशा-दर्शक वन पड़ा है। संपादकीय में जे.एन.यू. की घटना पर न्यायसम्मत टिप्पणी है कि जे.एन.यू. ऐसी घटनाओं का ऐतिहासिक केन्द्र रहा है जैसे कारगिल युद्ध के बाद पाकिस्तानी शायरों के मुशावरे, गलत बात का सेना के अफसर द्वारा विरोध पर उसकी पिटाई, सत्तर सीआरपी जवानों के मारे जाने पर जलूस, आदि, आदि। ब्रिटिश नीति थी 'फूट डालो औरशासन करो'। आज की नीति है कि धर्म, संप्रदाय, गुट, वाद, जाति किसी को

मुद्दा बनाओ और समाज को निरंतर तोड़ने का काम होता रहे। तभी तो शत्रु होंगे बलशाली और कामयाब। इसपर राजीव मलहोत्रा की पुस्तक Breaking India काफी खोजपूर्ण और विचारोत्तेजक है। यह निणार्यक दौर है। इस पार या उस पार। इसीलिए आपकी टिप्पणी हमें खबरदार करने के लिए है :

“जाति को नस्त घोषित करना, हिंदू पवित्रता के क्षेत्र पर आक्रमण (Invading the Hindu Sacred), विश्वद्यालयों या अन्य जगहों पर गोमांस खाने का आयोजन आदि निरीह गतिविधियाँ नहीं हैं। ऐसी गतिविधियों के देशी-विदेशी प्रायोजकों एवं उनके खतरनाक एजेंडा से हमें तत्काल सावधान हो जाना चाहिए।” (संपादकीय पृ. 6)

पर क्या इससे व्यवस्था, सरकार, तंत्र पर कोई प्रभाव पड़ेगा—यही सोचना है। ये विमूढ़ जन हैं, जिन पर जगत गति का भला प्रभाव पड़ेगा। “सबसे भले” विमूढ़ जन जिन्हें न व्यापे जगत गति।” डॉ. सूरिदेव संस्कृत, हिंदी, प्राकृत, अपभ्रंश के अधीत विद्वान हैं। ‘कुमार संभव’ में वर्णित शिवलीला’ में उसके प्रतिपाद्य, उद्देश्य और वर्णन के सौंदर्य पर उनकी दृष्टि खूब रमी है। लीला है कौतुक, खेल, क्रीड़ा, पर इसका रहस्य है। राम भी तो लीला करने आए थे। कृष्ण भी। फिर लीला के साथ अंतर्धाराएँ बहती हैं, जो महान अभीष्ट सिद्धि देती हैं। “महाकवि कालिदास ने अपने ‘कुमारसम्भव’ महाकाव्य में महाशक्ति पार्वती और महाशक्तिमान परमेश्वर शिव की अतिशय मोहक लीला को उक्त अनभिज्ञतामूलक ललित भाव सौंदर्य में ही उपन्यस्त किया है।” (पृ. 25)

इन दिनों एक ओर नारी का विविध स्तरों पर शोषण ढोहन चल रहा है, दूसरी ओर उसके जयगान के स्वर मुखरित हो रहा है। सिमोथद बउआर की ‘सेकेंड सैक्स’ हो या अन्य विमर्श-मूलक कृति, वहाँ यही स्वर मँड़रा रहा है। ऐसी स्थिति में प्रो. निशि मोहन ने एक नया, विषय उठाया है। यह विषय इतना गंभीर, महत्त्वपूर्ण और विचारोत्तेजक हो गया है कि आज पाठ्यपुस्तकों में भी ऐसे पाठ का प्रावधान है। यहाँ पाठ्यपुस्तकों में नारी छवि के ये विविध पक्ष, पहलू और आयाम हैं: (क) नारी की स्थिति (ख) नारी क्या महत्त्वपूर्ण विषय का प्रतिनिधित्व करती है? (ग) महिला रचनाकार क्या यथेचित स्थान पाते हैं? नारी-स्थिति परिवर्तन का ग्राफ सकारात्मक, विकासोन्मुख है या खानापूर्ति, लीपापोती (घ) पाठ में वर्णित नारी छवि क्या समाज की मानसिकता में सकारात्मक परिवर्तन ला पाती है? ऐसे अन्य लेख सामने आएँ, तो नारी-विकास की जड़ता मिटे। तत्वता: जिस प्रवृत्ति की प्रधानता हो गई, उसपर हजारों पृष्ठ लिखे जाने हैं। पर प्रभाव उनका न्यून या शून्य होता है। परंतु पाठ्य पुस्तकों से (जड़ से, प्रारंभ से) इसका शुभारंभ शुभ संकेत देता है। सर्जनात्मक, क्रांतिकारी सभी लेखों पर टिप्पणी हो तो लेख बन जाए। अतएव लेखकों को साधुवाद। संपादक को उनकी अनंत विधायिनी दृष्टि के लिए अशेष धन्यवाद। - प्रो. मृत्यंजय उपाध्याय, वृन्दावन, राजेन्द्र पथ, धनबाद-826001 (झारखंड), मो. 09334088307.

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तक/पत्रिका:

पुस्तक:

शरणम्, संपादक: नरेन्द्र कोहली, प्रकाशक: वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002; प्रथम संस्करण: 2015 ई.; पृष्ठ: 224; मूल्य: 395.00 रुपये।

एकान्त का मानचित्र, कहानियाँ और कविताएँ, संपादक: संगीता गुन्देचा; प्रकाशक: सूर्य प्रकाशन मन्दिर, बीकानेर, नेहरू मार्ग (दाऊजी रोड) बीकानेर; प्रथम संस्करण: 2016 ई.; पृष्ठ: 136; मूल्य: 250.00 रुपये।

राज के स्वराज, भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, संपादक: रामचन्द्र प्रधान; प्रकाशक: हिंदी माध्यम कार्यालय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 10, केवेलरी लाइन, दिल्ली-110007 द्वारा प्रकाशित तथा मैसर्स चौधरी मुद्रण केन्द्र, मौजपुर, दिल्ली-53 द्वारा मुद्रित; प्रथम संस्करण: जून 2015 ई.; पृष्ठ: 446; मूल्य: 200.00 रुपये।

महासागर से मिलने की शिक्षा, संपादक: अनुपम मिश्र; प्रकाशक: सिस्टम्स विज़न, ए-199, ओखला, फेज-1, नई दिल्ली-110020; पृष्ठ: 114; मूल्य: 150.00 रुपये।

अज्ञान भी ज्ञान है, संपादक: अनुपम मिश्र; प्रकाशक: सिस्टम्स विज़न, ए-199, ओखला, फेज-1, नई दिल्ली-110020; पृष्ठ: 130; मूल्य: 150.00 रुपये।

Shared Concerns, Observations and Report-1, Editor: Rajiv Vora; published by Swaraj Peeth Trust, G-92 SF, South City-II, Sohna Road, Gurgaon-122018, NCR Delhi; page: 54.

Disinherited Generation of J&K and Engima of Kashmiri Pandit-Muslim Relationship, Observations and Report-2, Editor: Rajiv Vora; published by Swaraj Peeth Trust, G-92 SF, South City-II, Sohna Road, Gurgaon-122018, NCR Delhi; page: 94.

Nonviolence and Peace Building in Jammu & Kashmir, Observations and Report -3, Editors: Niru Vora & Rajiv Vora; published by Swaraj Peeth Trust, G-92 SF, South City-II, Sohna Road, Gurgaon-122018, NCR Delhi; page: 78.

पत्रिका:

पुस्तक संस्कृति, साहित्य और संस्कृति की त्रैमासिकी, प्रवेशांक वर्ष-1, अंक 1, जनवरी-मार्च 2016; प्रधान संपादक: बलदेव भाई शर्मा, प्रकाशक: व मुद्रक सतीष कुमार द्वारा राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नेहरू भवन, 5 इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज-II, वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070; पृष्ठ: 64; मूल्य: 50.00 रुपये, वार्षिक 200 रुपये।

चिन्तन-सृजन का स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

फार्म 4

नियम 8

- | | | |
|-----------------------------------|---|--|
| 1. प्रकाशन स्थान | : | दिल्ली |
| 2. प्रकाशन अवधि | : | त्रैमासिक |
| 3. स्वामी | : | आस्था भारती, नई दिल्ली |
| 4. मुद्रक | : | डॉ. लता सिंह
सचिव, आस्था भारती
हॉ, भारतीय
27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096 |
| (क्या भारत के निवासी हैं?)
पता | | |
| 5. प्रकाशक | : | डॉ. लता सिंह
सचिव, आस्था भारती
हॉ, भारतीय
27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096 |
| (क्या भारत के निवासी हैं?)
पता | | |
| 6. सम्पादक | : | डॉ. बी. बी. कुमार
सम्पादक, आस्था भारती
हॉ, भारतीय
27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096 |
| (क्या भारत के निवासी हैं?)
पता | | |

मैं डॉ. लता सिंह घोषित करती हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

(ह.) डॉ. लता सिंह
प्रकाशक

जून 13, 2016

केन्द्रीय हिंदी संस्थान

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्क: हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोन: 0562-2530684, वेबसाइट:

www.indisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र : दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमुख उद्देश्य

■ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन। ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन। ■ अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण। ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हो और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थाओं को संबद्धता प्रदान करना। ■ समय-समय पर विषयानुसार अध्येतावृत्ति (फेलोशिप) छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य

■ शिक्षणपरक कार्यक्रम: (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतराज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संबद्धतात्मक कार्यक्रम, (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

■ अनुसंधानपरक कार्यक्रम: (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान,

(iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरा द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

■ **शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास:** (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-रच्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (iv) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं के द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशन: हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि के संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका - 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालय: भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय: हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँ: ■ भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केन्द्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत। ■ अफगानिस्तान के नानहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ। ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एम.ए., यू.के, मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध जारी। ■ हिंदी के बहुआयामी संबर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरेशन परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना, लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

- डॉ. कमल किशोर गोयनका
उपाध्यक्ष, केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल
ई-मेल: kkgoyanka@gmail.com

- प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय
निदेशक
ई-मेल: nkpandey65@gmail.com
directorofkhs@yahoo.co.in

सेवा में,

आस्था भारती
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट,
मयूर विहार फेस-1 विस्तार,
दिल्ली-110 096.

महोदय,

मैं त्रैमासिक पत्रिका चिन्तन-सृजन का ग्राहक बनना चाहता हूँ। इस हेतु.....
.....रुपये चेक/बैंक ड्राफ्ट सलग्न है। यह शुल्क एक वर्ष/तीन वर्ष के लिए है
(√टिक करें)।

नाम :
.....
पता (शहर, पिन कोड अवश्य लिखें) :
.....
फोन न. :
ई-मेल :

भवदीय

(हस्ताक्षर)

नोट: 1. चेक/बैंक ड्राफ्ट "आस्था भारती" के नाम से होना चाहिए तथा नई दिल्ली/दिल्ली में देय होना चाहिए।

पत्रिका चेक के भुगतान के बाद साधारण डाक से भेजी जाएगी।

2. चिन्तन-सृजन की शुल्क निम्न है।

वार्षिक मूल्य:	एक प्रति का मूल्य
व्यक्तियों के लिए 60.00 रुपए	व्यक्तियों के लिए 20.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए 150.00 रुपए	संस्थाओं के लिए 40.00 रुपए
तीन वर्ष:	
व्यक्तियों के लिए 180.00 रुपए	
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए 400.00 रुपए	